TO THE READER.

KINDLY use this book very carefully. If the book is disfigured or marked or written on while in your possession the book will have to be replaced by a new copy or paid for. In case the book be a volume of set of which single volumes are not available the price of the whole set will be realized

C. L. 29.

SRI PRATAP COLLEGE

LIBRARY

Class No. 821.933.

Book No. R 16 C.

Acc. No. 7935.

हिन्दी भाषा का विकास

(बाबू श्यामसुन्दरदास)

यह बात प्रायः सर्वसम्मत है कि प्राचीन भारतीय आर्य यूरोप और एशिया की आधुनिक सीमा के आसपास के मैदानों में रहते थे। वहां से वे हिन्दू-कुश और अफ़गानिस्तान के मार्ग से भारत में आये और पंजाब में बस गये। वे एक दम बढ़ते हुए नहीं चले आये थे। वे कई टोलियों में आए थे और मार्ग में ही उन्हें कई पीढ़ियां, वरन् कई शताब्दियाँ लग गई थीं। इन आर्यों की प्राचीनतम भाषा, जिस का अब तक पता चला है, ऋग्वेद की ऋचाओं में रक्षित है। क्रमशः इस भाषा ने विकसित होकर वैदिकसंस्कृत और तब साहित्यिक संस्कृत का रूप धारण किया। पहले बोलचाल की भाषा प्राचीन प्राकृत थी, जिस से पाली का आविर्भाव हुआ। पाली के साहित्यिक आसन पर विराजने के अनन्तर मध्यकाल की प्राकृत का विकास हुआ और उस के भी उस आसन की अधिकारिणी होने के अनन्तर बोलचाल की भाषा अपभ्रंश भाषाओं के रूप में विकसित हुई। अपभ्रंश के अनन्तर आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ। इस प्रकार अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में एक ओर साहित्यिक भाषा की धारा बहती रही और दूसरी ओर बोलचाल की भाषा की। ये दोनों धाराएँ साथ ही साथ बहती चली आई हैं और दोनों में यथासमय परिवर्तन होते रहे हैं। वर्तमान-

काल में जो भाषाएँ प्रचलित हैं उन सब का विकास इस क्रम से हुआ है।

इसी प्रकार हिन्दी भाषा का विकास भी क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनन्तर हुआ है। यद्यपि अपभ्रंश की कविता बहुत पीछे की बनी हुई मिलती है, परन्तु हिन्दी का विकास चंद बरदाई के समय से स्पष्ट देख प[illegible] लगता है। इस का समय बारहवीं शताब्दी का अन्तिम [illegible]ा है, परन्तु उस समय भी इस की भाषा अपभ्रंश से बहु[illegible] भिन्न हो गई थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिये—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जे जंतु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु ॥१॥
पुत्तें जाएँ कवण गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुँहडी चंपिज्जइ अवरेण ॥२॥

दोनों दोहे हेमचन्द्र के हैं, जिन का जन्म संवत् ११४५ में और मृत्यु सं० १२२९ में हुई थी। अतएव यह माना जा सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा उस के कुछ पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिन्दी के आदि-कवि चंद के कुछ छन्द लेकर मिलाइये और देखिये, दोनों में कहाँ तक समता है।

उच्चिष्ट छंद चंदह बयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि ॥
ताली खुल्लिय ब्रह्म, दिक्खि इक असुर अदम्भुत।
दिघ्घ देह चख सीस, मुष्ष करुना जस जप्पत ॥

हेमचन्द्र और चंद की कविताओं को मिलाने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हेमचन्द्र की कविता कुछ पुरानी है और चंद की उस की अपेक्षा कुछ नई। हेमचन्द्र ने अपने व्याकरण

में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिये हैं जिन में से ऊपर के दोनों दोहे लिये गए हैं, पर ये सब उदाहरण स्वयं हेमचन्द्र के बनाए हुए नहीं हैं। सम्भव है कि इन में से कुछ स्वयं उसी के बनाए हुए हों, पर अधिकांश अवतरण मात्र हैं और इस लिये उस के पहले के होंगे। इस अवस्था में यह माना जा सकता है कि हेमचन्द्र के समय में [illegible] हिन्दी का विकास होने लग गया था और चंद के समय [illegible] उस का कुछ-कुछ रूप स्थिर हो गया था; अत एव हिन्दी का आदिकाल हम सं० ११०० के लगभग मान सकते हैं। यद्यपि इस समय के पूर्व के कई हिन्दी कवियों के नाम बताए जाते हैं, परन्तु उन में से किसी की रचना का कोई उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। इस अवस्था में उन्हें हिन्दी के आदिकाल के कवि मानने में संकोच होता है। अस्तु। चंद को हिन्दी का आदि-कवि मानने में किसी को सदेह नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि चंद का "पृथ्वीराजरासो" बहुत पीछे का बना हुआ है। इस में संदेह नहीं कि इस रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश है पर साथ ही उस में प्राचीनता के चिह्न भी कम नहीं हैं। दसम समय का पूरा अंश प्राचीन जान पड़ता है।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ जो बुंदेलखण्ड के प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस समय उस का बनाया कोई ग्रन्थ नहीं मिलता, पर यह माना जाता है कि उस के बनाए ग्रन्थ के आधार पर ही आरम्भ में "आल्हा-खंड" की रचना हुई थी। इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति अभी तक नहीं मिली है; पर संयुक्त प्रदेश और बुंदेलखण्ड में इस का बहुत प्रचार है और यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति

न होने तथा इस का रूप सर्वथा आल्हा गाने वालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इस में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिल गया है।

हिन्दी के जन्म का समय भारतवर्ष में राजनीतिक उलट फेर का था। उस के पहले ही से यहां मुसलमानों का आना आरम्भ हो गया था और इस्लाम धर्म के प्रचार तथा उत्कर्ष-वर्धन में उत्साही और दृढ़-संकल्प मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतवासियों को अपनी रक्षा की पड़ी थी। ऐसी अवस्था में साहित्य-कला की वृद्धि की किस को चिन्ता हो सकती थी। ऐसे समय में तो वे ही कवि सम्मानित हो सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों, वरन् तलवार चलाने में भी सिद्धहस्त तथा सेना के अग्र भाग में रहकर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी समर्थ हों। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे और इसी लिये उन की स्मृति अब तक बनी है। परन्तु उन के अनन्तर कोई १०० वर्ष तक हिन्दी का सिंहासन सूना देख पड़ता है। अतएव हिन्दी का आदिकाल संवत् ११०० के लगभग आरम्भ होकर १३०० तक चलता है। इस काल में विशेषकर वीर काव्य रचे गये थे। इस समय की भाषा का रूप राजपूताने की भाषा से मिलता-जुलता है, जिस में बीच-बीच में एक ओर पुरानी गुजराती और दूसरी ओर कहीं-कहीं पुरानी पंजाबी का मिश्रण देख पड़ता है। आरम्भ काल की हिन्दी में एक विशेषता यह भी थी कि वह प्रायः प्राकृत-प्रधान भाषा थी, अर्थात् उस में शब्दों के प्राकृत रूपों का अधिक प्रयोग होता था। राजपूताने में इस प्राकृत-प्रधान भाषा को "डिंगल" नाम दिया गया है। चारणों में इस भाषा

का बहुत प्रचार था और अभी तक बहुत कुछ है।

इस के अनन्तर हिन्दी के विकास का मध्यकाल आरम्भ होता है जो ५०० वर्षों तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सं० १३०० से १५०० तक और दूसरा १५०० से १८०० तक। प्रथम भाग में हिन्दी की पुरानी बोलियाँ बदल कर क्रमशः व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं और दूसरे भाग में उन में प्रौढ़ता आती है; तथा अन्त में अवधी और व्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक स्थिति डाँवाँडोल थी; उस में क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुंच कर पुनः डाँवाँडोल हो गई।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिन्दी की खड़ी बोली का रूप प्राचीन नहीं है। उन का मत है कि सन् १८०० ई० के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले-पहल अपने गद्य ग्रन्थ प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी बोली का प्रचार हुआ। लल्लूजीलाल के पहले का भी गद्य मिलता है; और कविता में तो खड़ी बोली तेरहवीं शताब्दी के मध्यभाग तक में मिलती है। कविता में खड़ी बोली का प्रयोग मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिन्दू-कवियों ने भी किया है। यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के आसपास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राजनीति का केन्द्र दिल्ली होने के कारण पहले-पहल मुसलमानों और हिन्दुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उन में भावों और विचारों का विनिमय इसी भाषा के द्वारा आरम्भ हुआ और उन्हीं की उत्तेजना से इस भाषा का व्यवहार बढ़ा। इस के अनन्तर मुसलमान लोग देश के

अन्य भागों में फैलते हुए इस भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्हींने इसे समस्त भारतवर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और इसी में मेरठ प्रान्त के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसलमानों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उन की भाषा मानी जाने लगी और हिन्दू कवियो ने अपनी कविता में मुसलमानों की बात चीत प्रायः इसी भाषा में दी है। अत एव मध्य काल में हिन्दी भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है–व्रजभाषा, अवधी और खड़ी बोली। जैसे आरम्भकाल की भाषा प्राकृत-प्रधान थी, वैसे ही इस काल की तथा इस के पीछे की भाषा संस्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की शोभा बढ़ाने के लिये आदि काल में प्राकृत शब्दों का प्रयोग होता था, वैसे मध्यकाल में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा। इस से यह तात्पर्य नहीं कि शब्दों के प्राकृत रूपों का अभाव हो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर प्रयुक्त होते रहे; जैसे–भुआल, सायर, गय, बसह, नाह, लोयन आदि।

उत्तर या वर्त्तमान काल की साहित्य भाषा में व्रजभाषा और अवधी का प्रचार घटता गया और खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया है। इस का प्रचार इतना बढ़ा है कि अब हिन्दी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य की रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है उस का विशेष सम्बन्ध साहित्य की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, व्रजभाषा और खड़ी बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ प्रचलित हैं; पर इस समय साधारण बोल चाल की भाषा खड़ी बोली है। इस खड़ी बोली का इतिहास भी बड़ा ही मनोरञ्जक है।

यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इस के प्रचार की सीमा थी, बाहर इस का बहुत कम प्रचार था। जब मुसलमान इस देश में बस गये और उन्हों ने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब उन्हें इस बात की चिन्ता हुई कि यहाँ वालों से किस भाषा में बात-चीत करें। दिल्ली में मुसलमानी शासन का केन्द्र होने के कारण उन्हों ने मेरठ की भाषा खड़ी बोली को ग्रहण किया। अत एव मुसलमानों के उर्दू (=फौजी बाज़ारों) में इस का व्यवहार होने लगा; और जहाँ-जहाँ मुसलमान फैलते गये, इस भाषा को अपने साथ लेते गए। क्रमशः इस में अरबी और फ़ारसी के शब्द घुसने लगे। पर आरम्भ में यह उन को सुगमता से ग्रहण करती और अपना रूप देती गई। पीछे यह प्रवृत्ति बदल गई और मुसलमानों ने इस में केवल फ़ारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उन के शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उस के व्याकरण पर भी फ़ारसी-अरबी व्याकरण का पुट चढ़ाना आरम्भ कर दिया। इस अवस्था में इस के दो रूप हो गये; एक तो हिन्दी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिन्दी ही के अनुसार रख कर, अंगरेज़ों ने इस का एक तीसरा रूप 'हिन्दोस्तानी' बनाया। अत एव इस समय इस खड़ी बोली के तीन रूप वर्त्तमान हैं—(१) शुद्ध हिन्दी—जो हिन्दुओं की साहित्यिक भाषा है और जिस का प्रचार हिन्दुओं में है; (२) उर्दू—जिस का प्रचार विशेष कर मुसलमानों में है और जो उन के साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिन्दुओं की घर के बाहर

की बोल चाल की भाषा है और (३) हिन्दोस्तानी—जिस में साधारणतः हिन्दी, उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसे सब लोग बोल चाल में काम में लाते हैं। इस में अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं। हम इन तीनों रूपों पर अलग-अलग विचार करेंगे। पर ऐसा करने के पहले इस बात पर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि इस की व्युत्पत्ति के विषय में जो बहुत से विचार फैल रहे हैं, वे भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का यह कहना है कि आरम्भ में हिन्दी या खड़ी बोली व्रजभाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इस में सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गये और इस ने एक नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ी बोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या व्रजभाषा का है। भेद केवल इतना है कि व्रजभाषा तथा अवधी में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने लगी है। पूर्वकाल में खड़ी बोली केवल बोल चाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अङ्गीकार किया और आरम्भ में उन्हीं ने इस को साहित्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। खड़ी बोली का सब से पहला कवि अमीर ख़ुसरो है जिस का जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई थी। अमीर ख़ुसरो ने मसनवी ख़िज़्र-नामः में, जिस में मुख्यतः सुलतान अलाउद्दीन ख़िलजी के पुत्र ख़िज़्र ख़ां और देवलदेवी के प्रेम का वर्णन है; हिन्दी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिन्दी भाषा फ़ारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिन्दी से कम मालूम हुई। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फ़ारसी में यह कमी है कि बिना मेल के काम में आने योग्य नहीं है। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण में किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सब से अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर मांग कर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिन्दी भाषा भी अरबी के समान है; क्योंकि उस में भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

ख़ुसरो ने हिन्दी और अरबी-फ़ारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिन्दू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनिमय में सहायता पहुँचाने के उद्देश से ख़ालिक़बारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवाकर तथा ऊँटों पर लदवा कर सारे देश में बाँटी गई थीं। अत एव अमीर ख़ुसरो खड़ी बोली के आदि कवि ही नहीं हैं, वरन् उन्हों ने हिन्दी तथा फ़ारसी-अरबी में परस्पर आदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुंचाई थी। विक्रम की १४ वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का नमूना ख़ुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है, जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया ।
अरतन बरतन सब सरकाया ॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता ।
ए सखि ! साजन, ना सखि कुत्ता ॥
स्याम बरन की है एक नारी ।
माथे ऊपर लागे प्यारी ॥
जो मानुस इस अरथ को खोले ।
कुत्ते की वह बोली बोले ॥

हिन्दू कवियों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का प्रयोग किया है । प्रायः मुसलमानों की बातचीत वे खड़ी बोली में लिखते थे । भूषण ने शिवा-बावनी में अनेक स्थानों में इस भाषा का प्रयोग किया है । उन में से कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

(१) अब कहां पानी मुकुतों में पाती हैं ।
(२) खुदा की कसम खाई हैं ।
(३) अफज़ल ख़ान को जिन्हों ने मैदान मारा ।

ललिता किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिये—

जङ्गल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबराता है ।
मानुस गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है ॥
चाक गरेबाँ करके दम-दम, आहें भरना आता है ।
ललितकिशोरी अश्क रैन दिन, ये सब खेल खेलाता है ॥

अत एव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इस का अधिक आदर नहीं था । अट्ठारवीं शताब्दी में हिन्दी के गद्य की रचना आरम्भ हुई और इस के लिये खड़ी बोली ग्रहण की गई । पर इस से

यह मानना कि उर्दू के आधार पर हिन्दी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं है। पण्डित चन्द्रधर गुलेरी ने लिखा है—

"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्त्तमान हिन्दी के आरम्भ काल के गद्य और पद्य को देख कर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फ़ारसी-अरबी तत्समों या तद्भवों को निकाल कर संस्कृत या हिन्दी तत्सम और तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई है। इस का कारण यही है, कि हिन्दू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रान्तीय बोली में रंगे थे, उन की परम्परागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की "पड़ी" भाषा को "खड़ी" बना कर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रान्तीय भाषा से उन का परम्परागत प्रेम न था। उन की भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली, हिन्दू अपने अपने प्रान्त की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिन्दू घरों की बोली प्रादेशिक है। चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिन्दी हो; मुसलमानों में बहुतों के घर की खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिन्दी की विभाषा है। किन्तु हिन्दुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उस की सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिन्दुओं में जाग्रति होने पर उन्हों ने हिन्दी को अपना लिया। हिन्दी गद्य की भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरम्भ होती है। उर्दू गद्य उस से पुराना है; खड़ी बोली की कविता हिन्दी में नई है। अभी तक ब्रजभाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उस के बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिन्दी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी है।"

यद्यपि गुलेरी जी का यह निष्कर्ष कि 'खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उस का प्रचार चारों ओर फैला तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिन्दी के इस खड़ी बोली रूप का इतना महत्त्व हुआ, सर्वथा सत्य है और इस के लिये हमें उन का उपकार मानना चाहिये। परन्तु उन का यह कहना कि 'उर्दू रचना में फ़ारसी, अरबी तत्सम या तद्भव रखने से हिन्दी बना ली गई' ठीक नहीं है। पहले तो उर्दू का आदि कवि मुहम्मद कुली माना जाता है। संवत् १६३७ में गोलकुंडे के बादशाह सुलतान इब्राहीम की मृत्यु पर उस का पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिन्दी का खड़ी बोली वाला रूप हमें साहित्य में १३०० वि० के आरम्भ में अर्थात् उर्दू के आदि कवि से कोई ३०० वर्ष पहले मिलता है। इस लिये यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर हिन्दी का खड़ी बोली रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर व्रज की काव्यमयी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमानों की उर्दू कविता में भी व्रजभाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निःसंकोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू कवियों ने इस काव्यभाषा के शब्दों से अपना अपना पीछा छुड़ाया और खड़ी बोली को अरब और फ़ारस की वेशभूषा से सुसज्जित कर के स्वतन्त्र रूप दे दिया। अत एव यह कहना तो ठीक है कि उर्दू वास्तव में हिन्दी की 'विभाषा' है पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिन्दी खड़ी हुई है। "उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्य-भाषा का सहारा ले कर उठी, फिर जब टांगों में बल आया, तब किनारे हो गई।"

इसी प्रकार हिन्दी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिन्दी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। वास्तव में उन्होंने हिन्दी गद्य को आधुनिक रूप नहीं दिया। उन के कुछ पहले का, मुं० सदासुख के लिखे भागवत का हिन्दी अनुवाद, "सुखसागर" वर्त्तमान है। उस का कुछ अंश नीचे उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिन्दी गद्य का आरम्भ हो चुका था।

"धन्य कहिये राजा पृथु जी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्हों ने पृथ्वी मन्थन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाए और किसी से सहायता न मांगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुःख होयगा, वह दुःख आप को होय, इस हेत अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया, फिर कैसा कुछ किया कि इस का नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इस के अनन्तर लल्लूजीलाल, सदल मिश्र तथा इंशा उल्लाहख़ाँ का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुन्दर है। प्रेमसागर में भिन्न-भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करि के, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय कर, बुलाय करिके आदि रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। इंशा उल्लाहख़ाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उन की भाषा सरल और सुन्दर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग इसे हिन्दी का नमूना मान कर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। सारांश यह कि यद्यपि फ़ोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेष कर डाक्टर गिलक्रिस्ट की कृपा से हिन्दी गद्य का प्रचार बढ़ा और

उस का भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उस के जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिन्दी (खड़ी बोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अंगरेज़ों की कृपा से हिन्दी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिन्दी के साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

हम पहले यह बात कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हिन्दी की विभाषा थी । इस का जन्म हिन्दी से हुआ और उस का दुग्धपान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्तिसम्पन्न हो गई, इस में अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई और मुसलमानों के लाड़-प्यार से यह अपने मूल रूप को भूल कर अपने पृष्ठपोषकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब इस ने क्रमशः स्वतन्त्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर यह स्वतन्त्रता नाममात्र की थी। उस ने हिन्दी से, जहां तक संभव हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतन्त्रता समझी । पर वास्तव में वह अपनी जन्मदातृ को भूल कर तथा अरबी-फ़ारसी के जाल में फँस कर अपने आप को उसी प्रकार धन्य मानने लगी। जिस प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति अपने विजेता की नकल करके उस का विकृत रूप धारण करने में ही अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती है। इस प्रकार उर्दू निरन्तर हिन्दी से अलग होने का उद्योग करती आ रही है । चार बातों में हिन्दी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

(१) उर्दू में अरबी-फ़ारसी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग रहा है, और वह भी तद्भव रूप में नहीं, वरन् तत्सम रूप में।

(२) उर्दू पर फ़ारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिन्दी के अनुसार न बन कर फ़ारसी के अनुसार बन रहे हैं; जैसे काग़ज़, कसबा या अमीर का बहुवचन काग़ज़ों, कसबों या अमीरों न हो कर काग़ज़ात, कसबात, उमरा आदि हो जाता है, और ऐसे बहुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) सम्बन्ध-कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इज़ाफ़त कर के शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है, जैसे, सितारे-हिन्द, दफ्तरे-फौजदारी, मालिके-मकान। इसी प्रकार करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'अज़' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे अज़ खुद, अज़ तरफ़। अधिकरण कारक की विभक्ति के स्थान में भी 'दर' विभक्ति का प्रयोग होता है, जैसे, दर-असल, दर-हक़ीक़त। कहीं-कहीं 'दर' के स्थान में अरबी प्रत्यय 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है, जैसे, फ़िलहाल, फ़िल-हक़ीक़त।

(४) हिन्दी और उर्दू की सब से अधिक विभिन्नता वाक्य विन्यास में देख पड़ती है। हिन्दी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अन्त में क्रिया होती है; पर उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी-कभी कर्त्ता के पहले भी रख दी जाती है; जैसे "राजा इंदर का आना" न कह कर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह न कह कर कि 'उस ने एक नौकर से पूछा' यह कहेंगे—"एक नौकर से उस ने पूछा"।

नीचे हम उदाहरण के लिये उर्दू के एक लेख से कुछ

अंश उद्धृत करते हैं, जिस से ऊपर लिखी चारों बातें स्पष्ट रूप से समझ में आ जायँगी ।

"क़स्बः निगोहा के जानिबे दखिन एक मन्दिर महादेव जी का है, जिस को भौरसेर कहते हैं, और जो किनारे दरियाए सई के वाक़अ है । और वहां पर हर दुशंबः को मेला होता है, और अक्सर लोग हर रोज दर्शन को बिला नागः जाया करते हैं, और जो मक़सदे दिली रखते हैं, वोह पूरा होता है । सुनने में आया है कि एक वक़्त में औरंगज़ेब बादशाह भी उन के मन्दिर पर तशरीफ़ लाए थे । और उन की यह मंशा थी कि इस मंदिर को खुदवा कर मूरत को निकलवा लेवें, और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तहद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मअलूम हुई । तब बादशाह ने गुस्से में आ कर इजाज़त दी कि इस मूरत को तोड़ डालो । तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरूअ किया, और दो एक ज़र्ब मूरत में लगाई, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिस का निशान आज तक भी मौजूद है, और क़द्रे खून भी मूरत से नामूद हुआ, लेकिन ऐसी कुद्रत मूरत की ज़ाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फ़ौजे बादशाह की भौंरों से परेशान हुईं । और यह खबर बादशाह को भी मअलूम हुई । तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा इस मूरत का नाम आज से भौरेसर हुआ और जिस तरह पर थी, उसी तरह से बन्द कर दो । और खुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बन्द कराने का इन्तज़ाम कर दिया ।

हिन्दोस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है, कि इस की सृष्टि अंगरेज़ी राजनीति के कारण हुई है । हिन्दी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिला कर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के

शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें ले कर तथा हिन्दी व्याकरण के सूत्र में पिरो कर इस भाषा को रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ कत सफल होगा, इस विषय में भविष्यद् वाणी कठिन ही नहीं, अनुचित भी है। जिस प्रकार राजनीति के प्रभाव में पड़ कर हिन्दी के अवधी तथा ब्रजभाषा रूप, जिन में साहित्य की बहुमूल्य रचना हुई है, अब धीरे-धीरे पीछे हटते जा रहे हैं और उनके स्थान में खड़ी बोली, जो किसी समय में केवल बोलचाल की भाषा थी और जिस में कुछ भी साहित्य नहीं था, अब आगे बढ़ती आ रही है तथा उन का स्थान ग्रहण करता जा रहा है, वैसे ही कौन कह सकता है कि दो एक शताब्दियों में भारतवर्ष की प्रधान बोलचाल तथा साहित्य की भाषा हिन्दोस्तानी न हो जाएगी, जिस में केवल हिन्दी उर्दू के शब्दों का ही मिश्रन न होगा, वरन् अंगरेजी भी अपनी छाप बनाए रहे गा। भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब-जब बोलचाल की भाषा ने एक ओर साहित्यिक रूप धारण किया, तब-तब दूसरी ओर बोलचाल के लिये भाषा ने परिवर्त्तित हो कर दूसरा नया रूप धारण किया, और फिर उस के भी साहित्यक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा नए रूप में चल पड़ी। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है, और कोई कारण नहीं देख पड़ता कि इस की पुनरावृत्ति निरन्तर न होती जाय।

(गद्य कुसुमावली)

साहित्य का तात्पर्य

(श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर)

बाह्य जगत् हमारे मन के अन्दर प्रवेश करके एक दूसरा जगत् बन जाता है। उस में केवल बाह्य जगत् के रंग, आकृति तथा ध्वनि आदि ही नहीं होते, अपितु उस के साथ हमारा अच्छा-बुरा लगना, हमारा भय-विस्मय, हमारा सुख-दुःख भी मिला रहता है—* वह हमारी हृदय-वृत्ति के विचित्र रस में नाना प्रकार से आभासित होता है।

इसी हृदय वृत्ति के रस में जीर्ण कर के हम बाह्य जगत् को विशेष रूप से अपना बना लेते हैं। जिस तरह जिन के उदर में पचाने वाला रस पर्याप्त मात्रा में नहीं होता, वे बाह्य खाद्य पदार्थ को अच्छी तरह अपने शरीर की वस्तु नहीं बना सकते; उसी तरह जो हृदयवृत्ति के जारक रस का उपयोग संसार में पर्याप्त मात्रा में नहीं कर सकते, वे बाह्य जगत् को अन्दर का जगत्, अपना जगत् अर्थात् मानुषीय जगत् नहीं बना सकते।

कुछ इस प्रकार के जड़-प्रकृति के मनुष्य हैं जिन के हृदयों में संसार के अत्यन्त अल्प विषयों के प्रति उत्सुकता होती है—वे संसार में जन्म लेकर भी अधिकांश जगत् से वञ्चित रहते हैं। उन के हृदय की खिड़कियाँ संख्या में कम और चौड़ाई में सङ्कीर्ण होती हैं; इस लिये संसार के बीच में वे प्रवासी-से हैं।

कुछ इस प्रकार के सौभाग्यवान् मनुष्य भी हैं जिन का

---

* वह से तात्पर्य बाह्य संसार का है।

विस्मय, प्रेम और कल्पना सर्वत्र सजग रहती है—प्रकृति के कोने-कोने से उन को निमन्त्रण मिलता है; संसार के नाना आन्दोलन उन की चित्त-वीणा को नाना रागिणियों में स्पन्दित कर देते हैं।

बाह्य जगत् इन के मन के बीच हृदयवृत्ति के नाना रसों म, नाना रंगों में, नाना साँचों में अनेक प्रकार से बन जाता है।

भावुकों के मन का यह जगत् बाह्य जगत् की अपेक्षा मनुष्य का अधिक अपना है। वह हृदय की सहायता से मनुष्य के हृदय के लिए अधिक सुगम हो जाता है। वह हमारे चित्त के प्रभाव से जो विशेषता प्राप्त करता है, मनुष्य के लिये वही सब से अधिक उपादेय है।

इस लिये देखा जाता है कि बाह्य जगत् में तथा मनुष्य जगत् में बड़ा अन्तर है। कौन-सी वस्तु सफ़ेद है, कौन-सी काली है, कौन-सी बड़ी है, कौनी-सी छोटी है—मनुष्य-जगत् इन की केवल सूचना ही नहीं देता है; किन्तु कौन-सी वस्तु प्रिय है, कौन-सी अप्रिय, कौन-सी वस्तु अच्छी है, कौन सी बुरी—मनुष्य-जगत् इसी बात को नाना सुरों में कहता है।

यही मनुष्य-जगत् हमारे हृदय-हृदय में प्रवाहित होता हुआ आता है। यह प्रवाह पुरातन एवं नित्य नवीन है। नई-नई इन्द्रियों, नये-नये हृदयों के भीतर होकर यह सनातन स्रोत सदा से नया हो कर बह रहा है।

किन्तु इस को किस प्रकार प्राप्त किया जाय? इस को किस तरीके से पकड़ कर रक्खा जाय? इस अपरूप मानस-जगत् को रूप देकर दुबारा प्रकाशित न कर सकने पर यह सदा ही सृष्ट एवं सदा ही विनष्ट हुआ करता है।

किन्तु यह वस्तु नष्ट नहीं होना चाहती। हृदय का जगत् अपने को व्यक्त करने के लिये व्याकुल रहता है। इसी लिए चिरकाल से मनुष्य के अन्दर साहित्य का आवेग है।

साहित्य का विचार करते समय दो बातों पर विचार करना पड़ता है। प्रथम—लेखक के हृदय का संसार के ऊपर कितना अधिकार है? द्वितीय—वह स्थायी रूप में कितना व्यक्त हुआ है?

हमेशा इन दोनों के बीच में सामञ्जस्य नहीं होता। जहाँ होता है, वहाँ सोने में सुहागा होता है।

कवि का कल्पना-सजीव हृदय जितना विश्वव्यापी होता है, उस की रचना की गम्भीरता में हमारी संतुष्टि उतनी ही बढ़ जाती है। उतनी ही मानव संसार की सीमा के विस्तृत होने से हमारा चिरन्तन विहार का क्षेत्र विपुलता को प्राप्त करता है।

किन्तु रचनाशक्ति की निपुणता भी साहित्य में अत्यन्त मूल्यवान् है। क्योंकि जिस का सहारा लेकर वह शक्ति व्यक्त होती है, उस के अपेक्षाकृत तुच्छ होने पर भी यह शक्ति सर्वथा नष्ट नहीं होती। यह भाषा तथा साहित्य में इकट्ठी होती रहती है। इस के द्वारा मनुष्य की प्रकाश करने की क्षमता बढ़ जाती है। इस क्षमता को प्राप्त करने के लिये मनुष्य सदा से व्याकुल है। जिन कृतियों की सहायता से मनुष्य की यह शक्ति परिपुष्ट होती है, मनुष्य उन को यशस्वी बना कर उन से उऋण होने की चेष्टा करता है।

जो मानस-जगत् हृदय के भावों के उपकरणों के द्वारा अन्दर सृष्ट होता है, उस को बाहर प्रकाशित करने का कौन-सा तरीका है?

उस को इस तरह व्यक्त करना होगा जिस से हृदय का भाव सुस्पष्ट हो जाय । हृदय के भावों को सुस्पष्टतया व्यक्त करने में बहुत-सी सामग्री लगती है।

पुरुष के दफ़्तर जाने के कपड़े सीधे-सादे होते हैं, वे जितने कम हों उतने ही कार्य में उपयोगी होते हैं । स्त्रियों की वेश-भूषा, लज्जा-शर्म, भाव-भंगी समस्त ही सभ्य समाजों में प्रचलित है।

स्त्रियों का कार्य हृदय का कार्य है । उन को हृदय देना पड़ता है और हृदय को खींचना पड़ता है—इसी लिये बिलकुल सरल सीधा सादा और नपा नपाया होने से उन का कार्य नहीं चलता। पुरुषों को यथायोग्य होना आवश्यक है किन्तु स्त्रियों को सुन्दर होना चाहिये। मीठे तौर से पुरुषों के व्यवहार का सुस्पष्ट होना ही अच्छा है; किन्तु स्त्रियों के व्यवहार में अनेक आवरण और आभास-इङ्गित होने चाहिएँ।

साहित्य भी अपनी चेष्टा को सफल करने के लिये अलंकारों का, रूपकों का, छन्दों का और आभास इङ्गितों का सहारा लेता है। दर्शन और विज्ञान के समान निरलंकृत होने से उस का गुज़ारा नहीं हो सकता।

यदि अपरूप को रूप के द्वारा अभिव्यक्त किया जाए, तो वाणी के अन्दर अनिर्वचनीयता की रक्षा करनी पड़ती है । जिस प्रकार स्त्रियों की सुन्दरता और लज्जा होती है, साहित्य की अनिर्वचनीयता भी वैसी ही होती है । यह अनुकरणातीत है। वह अलंकारों को अतिक्रम कर देती है, वह अलंकारों द्वारा आच्छन्न नहीं होती।

भाषा के बीच में इस भाषातीत को प्रतिष्ठित करने के लिये

साहित्य मुख्यतः दो वस्तुओं को मिलाया करता है—एक चित्र को और दूसरे संगीत को।

वाणी के द्वारा जिसे नहीं कहा जा सकता उसे चित्र के द्वारा कहना पड़ता है। साहित्य में इस प्रकार की चित्र-रचना की सीमा नहीं है। उपमा, तुलना और रूपक के द्वारा भाव प्रत्यक्ष होना चाहते हैं। "देखिवारे आँखि-पाखि धाय" अर्थात् "देखने के लिए आँख पक्षी दौड़ता है।" इसी एक बात में कवि बलरामदास ने क्या नहीं कह दिया? एक मात्र वर्णन करने में व्याकुल दृष्टि की व्याकुलता किस प्रकार व्यक्त की जा सकती है? दृष्टि पक्षी की तरह उड़ कर दौड़ी है, इस चित्र से अभिव्यक्त करने की बहुत-सी व्याकुलता मुहूर्त में शान्ति को प्राप्त हो गई है।

इस के अतिरिक्त छन्दों में, शब्दों में, वाक्यविन्यास में साहित्य को सङ्गीत का आश्रय तो लेना ही पड़ता है। जिस को किसी प्रकार भी कहा नहीं जा सकता, उसे संगीत के द्वारा ही कहना पड़ता है। जो वस्तु अर्थ के विश्लेषण करने पर अत्यन्त सामान्य प्रतीत होती है, वही सङ्गीत के द्वारा असामान्य हो जाती है। यह सङ्गीत ही वाणी में वेदना का सञ्चार कर देता है।

अतएव चित्र और सङ्गीत ही साहित्य के प्रधान उपकरण हैं। चित्र भाव को आकार देता है और सङ्गीत भाव को गति प्रदान करता है। चित्र देह है और सङ्गीत प्राण है।

किन्तु केवल मनुष्य का हृदय ही साहित्य में पकड़ रखने योग्य वस्तु नहीं है। मनुष्य का चरित्र भी एक इस प्रकार की सृष्टि है। जो जड़-सृष्टि की तरह हमारी इन्द्रियों द्वारा आधीन नहीं होती। वह 'खड़े हो जाओ' कहनेमात्र से खड़ी

नहीं हो जाती। वह मनुष्य के लिये अत्यन्त उत्सुकताजनक है; किन्तु उस को पशुशाला के पशु के समान बांधकर बड़े पिंजरे में बन्द करके टकटकी लगाकर देखने का कोई सुगम उपाय नहीं है।

इन्हीं कड़े नियमों से अतीत, विचित्र मानव-चरित्र है। साहित्य इसी को अन्तर्लोक से बाहर प्रतिष्ठित करना चाहता है। यह अत्यन्त दुरूह कार्य है। क्योंकि मानव-चरित्र स्थिर तथा सुसङ्गत नहीं हैं, उस के अनेक अंश और तहें हैं—उस के अन्दर-बाहर बेरोक-टोक गमनागमन करना सुगम नहीं है। इस के अतिरिक्त उस की लीला इतनी सूक्ष्म है, इतनी अभावनीय है, इतनी आकस्मिक है कि उसे पूर्ण रूप से हमें हृदयगम्य करा देना असाधारण शक्ति का ही कार्य है। व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि यही कार्य करते आये हैं।

यदि हमारे समस्तविचारणीय विषय को संक्षेप से कहा जाय तो यही कहना होगा कि साहित्य का विषय मानव-हृदय और मानव-चरित्र है।

किन्तु 'मानव-चरित्र' यह कहना भी मानो आवश्यकता से अधिक है। वस्तुतः बाह्य प्रकृति और मानव-चरित्र मनुष्य के हृदय के अन्दर प्रतिक्षण जो रूप धारण करते हैं, जिस सङ्गीत को ध्वनित करके उठाते हैं। भाषारचित वही चित्र और वही गान साहित्य है।

भगवान् का आनन्द प्रकृति के बीच में, मानव-चरित्र के बीच में अपने को स्वयं सृष्ट कर रहा है। मनुष्य का हृदय भी साहित्य में अपने को सृजन करने के लिये, व्यक्त करने के लिये चेष्टा कर रहा है। इस चेष्टा का अन्त नहीं है, यह एक विचित्र

बात है। कवि लोग मानव-हृदय की इस चिरन्तन चेष्टा के उपलक्ष्यमात्र हैं।

भगवान् की आनन्दसृष्टि अपने अन्दर से स्वयं निकल रही है। मानव-हृदय की आनन्द-सृष्टि उसी की प्रतिध्वनि है। इसी जगत्-सृष्टि के आनन्द-गीत की झङ्कार हमारी हृदयवीणा-तन्त्री को अहरहः स्पन्दित करती है। यही जो मानस-सङ्गीत है—भगवान् की सृष्टि के प्रतिघात में हमारे अन्दर यही जो सृष्टि का आवेग है—उसी का विकास साहित्य है संसार का निश्वास हमारी चित्तवंशी में कौन-सी रागिणी को बजा रहा है—साहित्य उसी को स्पष्ट करके व्यक्त करने की चेष्टा करता है। साहित्य किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं है। वह रचयिता का नहीं है—वह तो देववाणी है। बाह्य-सृष्टि जिस प्रकार अपनी अच्छाई, बुराई, अपनी असम्पूर्णता को लेकर चिरकाल से व्यक्त होने की चेष्टा कर रही है—यह वाणी भी उसी प्रकार देश-देश में, भाषा-भाषा में हमारे अन्तस्तल से बाहर होने के लिये निरन्तर प्रयत्न कर रही है।

(साहित्य)

[अनुवादक—वंशीधर विद्यालंकार]

———

कालिन्दी-कूल

(श्री वियोगी हरि)

खड़े-खड़े आधी रात बीत गयी। चारों ओर अंधेरा ही अंधेरा छा रहा है। ऊपर काली घन-घटा है, नीचे कालिन्दी का श्याम प्रवाह। कहीं कुछ सूझता तक नहीं। तारे भी नहीं झिलमिलाते। बड़ा विकट सन्नाटा है। रात सांय-सांय बोल रही है। कैसा भांय-भांय लगता है! रह रह कर यमुना की विक्षिप्त लहरें हृदय को और भी हिला देती हैं। बड़ा भयावना दृश्य है! अकेली खड़ी-खड़ी क्या करूँ?

सखी सहेलियाँ छोड़ कर क्यों यहाँ अकेली ही आयी? न जाने, मुझे यहाँ कौन खींच लाया? खड़ी-खड़ी किस की बाट जोह रही हूँ? किस उलझन में पड़ी हूँ? कुछ समझ में नहीं आता। कैसे धीरज धरूँ! पैर थर-थर काँपते हैं। आँखें तिलमिला रही हैं। घड़ा व्यर्थ ही भर कर सिर पर लाद लिया। अब गिरा ही चाहता है। कैसे सँभालूँ?

दिया भी क्या बुझ जायगा? इस तेज़ आँधी में, अञ्चल की ओट में, कब तक ठहरेगा? कौन जानता है, कब बुझ जाय? और तेल भी तो चुक गया है। क्या वश? किसे मालूम था। कि मुझ अभागिनी के साथ ऐसी प्रवंचना की जायगी। मैं तो यही समझ कर दौड़ी थी कि कालिन्दी-तट पर वह मर्मभरी रागिनी सुनने को मिलेगी, जिस ने मेरे कल्पना-भवन में 'सत्यं शिवं सुन्दर' की स्वर-लहरी प्रतिध्वनित की थी। पर

सब धोखा ही निकला ! वेदान्तियों ने कदाचित् इसी अभितृष्णा को 'मृग-जल' कहा है।

एक बार और वह उन्माद-आमोदिता रागिनी सुनी थी। उस दिन भी वह मुझे मुग्धा मृगी के अन्तस्तल में बाण-सी बिंध गई थी। पर, तब इस तरह घर-बार छोड़ कर भागी नहीं थी। वहीं जी मसोस कर रह गई थी। आज की भांति उस दिन दौड़ी नहीं। आज की दशा तो कुछ विचित्र ही हुई। घरवालों के रोकते-रोकते भी घड़ा ले इधर चल पड़ी। भला, यह भी कोई पानी भरने का समय है ! सखी-सहेलियों की ओर देखा तक नहीं। करील की कँटीली डालों में वस्त्र उलझ जाने तक का तो ध्यान नहीं रहा। फूल-माला तो, न जाने कहाँ, टूट-टाट कर गिर गई। आँखें अपनी होतीं तो कुछ देखतीं। सुध तो तन तक की न थी ; वस्त्राभूषण कौन सँभालता ?

आखिर, वह रागिनी हुई क्या ? अलापने वाला कहाँ गया ? कहाँ जाऊँ, किस से पूछूँ ? सोचा था, कि उस रागिनी की धवल धारा से अन्तःकरण पखारूँगी, गायक को देख कर यह निस्तेज दृष्टि सौन्दर्य-सुधा से अनुप्राणित करूँगी। पर यह कुछ न हुआ। सुना क्या—उत्कण्ठित हृदय की धीमी प्रकम्पन-ध्वनि ! देखा क्या—अदृष्ट का धुँधला मानचित्र जान पड़ता है, यह विश्वव्यापी अन्धकार मेरी ही निराशा का काला प्रतिबिम्ब है। तो क्या वह मोहिनी रागिनी भी मेरे ही विक्षिप्त अन्तर्नाद की प्रतिध्वनि थी ? राम जाने, क्या था ?

लो, दीपक भी गया ! रहा-सहा धीरज था, वह भी गया। अब देखूँ, इस अनन्त शून्य-पट्ट पर मेरे रहस्य के अस्तित्व की क्षीण रेखा कब तक खचित रहती है। —— (अन्तर्नाद)

बाँसुरी

(श्री वियोगी हरि)

क्या कभी फिर बजेगी यह बाँसुरी ? सुनी तो एक ही बार थी, पर उस की प्रतिध्वनि आज भी इस अँधेरे शून्य हृदयागार में गूँज रही है । समझ में नहीं आता, उस फूँक में क्या जादू भरा था ।

शिशिर के दिन थे । लजवन्ती प्रतीची को एक झीनी लाल साड़ी पहना कर भगवान् भुवन-भास्कर क्षितिज पार कर चुके थे । सुहागिनी प्राची के ललाम ललाट पर कुमुदिनी-कान्त सौभाग्य-सिन्दूर लगा रहे थे । गो-धूलि-आच्छादित आकाश-मकरन्द-मण्डित पुष्पोद्यान-सा प्रतीत होता था । चिड़ियाँ चहचहाती हुई वृक्षों के अङ्क में बसेरा लेने जा रही थीं । ठण्ड के मारे निराश्रय जीव-जन्तु आश्रय ढूँढ रहे थे । देखते-देखते चारों ओर सन्नाटा छा गया ।

उन दिनों मेरी कुटिया, उत्तराखण्ड में एक बीहड़ पहाड़ी के सामने थी । आस-पास टीले ही टीले थे । नीचे एक चुलबुला नाला कूद-फाँद कर रहा था, जिस की विलोल लहरें प्रायः कुटिया के चबूतरे के साथ अठखेलियाँ किया करती थीं ।

उस रमणीय सन्ध्या को चबूतरे पर निरुद्देश-सा बैठा हुआ मैं सामने के ऊँचे शिखरों की ओर टक लगाए देख रहा था । स्वच्छ चाँदनी से निखरे हुए हिमाच्छादित श्वेत शिखर ऐरावत के दाँतों से होड़ लगा रहे थे । बैठा-बैठा मैं, न जाने,

किस उधेड़बुन में लग गया। मेरी विचार-शक्ति प्रतिक्षण क्षीण होती जाती थी। ऐसा प्रतीत होता था, मानो मैं किसी गहरे अन्धकूप में डूबता जा रहा हूँ।

एकाएक किसी स्वर्गीय स्वर ने मेरी ध्यान-मुद्रा भङ्ग कर दी। स्वर बाँसुरी का-सा था। पीछे निश्चय भी हो गया कि कहीं से बाँसुरी की ही ध्वनि आ रही है। वह उल्लसित स्वर-लहरी उस प्रशान्त नभोमण्डल में विद्युत् की भाँति दौड़ने लगी। हृदय लहरा उठा। शिखर मुस्कराने लगे। चन्द्रमा पुलकित हो गया। परिमल-वाही पवन प्रणय-सङ्केत करने लगा। दिग्वधुएँ घूँघट हटा झाँकने लगीं। नाला भी निस्तब्ध हो गया। पत्तियाँ थिरकने लगीं। मुग्धा प्रकृति के सलज्ज मुख पर एक अनुपम माधुरी-कलिका मुकुलित हो उठी। यह सब उसी मोहिनी-ध्वनि का प्रभाव था। तो फिर उसे मैं नव सृष्टि-विधायनी क्यों न कहूँ।

हाँ, अवश्य ही उस बाँसुरी की तान में नवीन सृष्टि-विधान का अद्भुत उपादान था। ऐसा न होता तो उस स्वर लहरी का आलिङ्गन कर प्रस्तर-खण्ड क्यों पसीज उठते? कठोर-हृदया विभावरी के तारक नेत्रों में प्रेमाश्रु क्यों छलक आते? वनश्री का धूमिल अञ्चल अनुरागरञ्जित क्यों हो जाता? मेरा पाप-परितप्त मलिन हृदय दूध की धार से पखार कर कौन शीतल और निर्मल करता?

वंशी-ध्वनि बराबर उसी ओर से आ रही थी। कभी-कभी तो कानों के अत्यन्त ही समीप जान पड़ती थी। उस समय मेरा मन हाथ में नहीं था। रह-रह कर उछल-सा रहा था। वंशी बजाने वाला कौन है, कैसा है, कहाँ है, कैसे मिलेगा—

आदि प्रश्नों में उलझ कर बेचारा अधीर हो उठा। उस रंगीले जादूगर की तरफ बेचारा खिंचा-सा जा रहा था। चाहा कि इधर-उधर टोह लगाऊँ, पर उठ न सका। शरीर जकड़-सा गया। क्या वश! अधीर आँखें कानों को कोसती हुई, बिना पानी की मछलियों की तरह, छटपटाने लगीं।

वंशी वाले! तुम चाहे जो हो, पर हो पूरे निर्दय! आँखों से ओट ही रहना था, तो बाँसुरी क्यों फूँकी? किस ने कहा था कि बाँसुरी बजा कर मुझे कुछ-का-कुछ कर दो! मेरा पहले का जीवन क्या बुरा था? कम-से-कम यह पागलपन तो सवार न था। दिल में न कोई दर्द था, न कसक थी, न आँखों में यह ज़हरीला नशा। न ऊधो का देना था, न माधो का लेना।

ख़ैर, जो हुआ सो हुआ, अब अपना दरस कब दोगे? प्यारे वह मोहिनी मुरली कब फूँकोगे, मोहन?

(अन्तर्नाद)

मेरा दुर्गोत्सव

(बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय,)

दशहरे के दिन मुझ से किस ने इतनी भंग पी लेने के लिये कहा था! मैं ने क्यों भंग पी ली! मैं क्यों (देवी की) प्रतिमा देखने के लिये गया! जो फिर कभी देख नहीं सकता, वही मैं ने क्यों देखा! यह इन्द्रजाल किस ने दिखाया!

मैं ने देखा काल का प्रबल प्रवाह बड़े वेग से विश्वब्रह्माण्ड में बहा चला जा रहा है, मैं भी उसी में एक छोटी सी डोंगी पर बैठा हुआ हूँ। देखा, अनन्त अपार अन्धकार है। उस प्रवाह में आँधी से बड़ी बड़ी लहरें उठ रही हैं। बीच बीच में उज्ज्वल नक्षत्र दिखाई पड़ते हैं, कभी छिप जाते हैं, और कभी फिर निकल आते हैं। मैं अकेला ही हूँ, अकेले होने से डर मालूम पड़ने लगा। बिल्कुल ही अकेला हूँ, माता भी पास नहीं। "मैया! मैया!" कह कर पुकार रहा हूँ। मैं इस काल सागर में मैया को खोजने आया हूँ। मैया कहाँ है? कहाँ मेरी मैया है? कहाँ हो चिदानन्द की जननी भारतमाता? इस घोर समय-समुद्र में कहाँ हो तुम?

सहसा स्वर्गीय बाजों के शब्द से कान भर गये। आकाश में, प्रातःकाल के अरुणोदय का ऐसा, ललाई लिये उज्ज्वल नकाश छिटक गया। शीतल मन्द पवन चलने लगा। तरंगपूर्ण जलराशि के ऊपर, दूर पर, मैं ने देखा, स्वर्णमढ़ी सप्तमी की

प्रतिमा शरद् की शोभा में शोभायमान है । जल में हँसती है, तैरती है, और विमल प्रकाश फैलाती है । यही क्या मैया है? हाँ, यही मैया है । पहचाना यही मेरी जननी जन्मभूमि है। यह मिट्टी की, अनन्तरत्नधारिणी, इस समय काल की कोख में डूबने चली है । रत्नभूषित दस भुजाएँ दशों दिशायें हैं, जो कि दस तरफ़ फैली हुई हैं, उन भुजाओं में जो शस्त्र देख पड़ते हैं, वे तरह-तरह की शक्तियाँ हैं । पैरों के नीचे शत्रु कुचला पड़ा हुआ है, चरणाश्रित वीर सिंह शत्रु को उठने नहीं देता ! यह मूर्ति इस समय नहीं देखूँगा। आज भी नहीं देखूँगा, कल भी नहीं देखूँगा, कल सागर के पार पहुँचे बिना नहीं देखूँगा । किन्तु एक दिन ज़रूर देखूँगा । मैं ने फिर मग्न हो कर उस काल के स्रोत में दश भुजा, अनेक शस्त्रधारिणी, शत्रु-मर्दिनी, वीरेन्द्रपृष्ठविहारिणी, भगवती भारतमाता की स्वर्णमयी-मूर्ति देखी । देखा, प्रतिमा की दाहिनी ओर भाग्यरूपिणी लक्ष्मी और बाईं तरफ़ विद्याविज्ञानमयी सरस्वती हैं संग में बलरूपी कार्तिकेय और कार्यसिद्धरूपी गणेश जी विराजमान हैं ।

मालूम नहीं, कहाँ से फूल मिल गये । मैं ने उस प्रतिमा के चरणों में पुष्पाञ्जलि चढ़ाई, और कहा—जय सर्वमङ्गलमाङ्गल्ये शिवे ! हमारे सब प्रयोजनों को साधने वाली ! असंख्य सन्तानों का पालन करने वाली अन्नपूर्णे ! धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष और कर्म फलरूप सुख-दुःख देने वाली मैया ! मेरी यह पुष्पाञ्जलि ग्रहण करो । भक्ति, प्रीति, प्रवृत्ति, शक्ति आदि पुष्पों को हाथ में लेकर मैं यह भी चरणों में पुष्पाञ्जलि अर्पण करता हूँ । तुम इस अनन्त जलमण्डल से निकल कर एक बार जगत् के अपने पुत्रों के आगे यह विश्वमोहिनी मूर्ति प्रकट करो । आओ मैया,

नवीन रंग से रंगी हुई, नवीन बलधारण किए हुए, नवीन दर्प से भरी हुई, नवीन स्वप्न देखती हुई मैया ! आओ, घर में आओ हम तुम्हारे ३२ करोड़ सन्तान एक स्थान में एक साथ ६४ करोड़ हाथ जोड़ कर तुम्हारे भी चरणों की अराधना करेंगे। ३२ करोड़ कण्ठ से आकाशमण्डल को कँपाते हुए कहेंगे—"मैया जननी अम्बिके ! धात्रि धरित्रि धन-धान्य-धारिणि ! नगाङ्क-शोभिनि ! नगेन्द्रबालिके ! शरत्सुन्दरि चापपूर्णचन्द्रभालिके !" पुकारेंगे "सिन्धुसेविते सिन्धुपूजते सिन्धुमन्थनकारिणि ! शत्रुओं को मारने के लिये दस भुजाओं में दस शस्त्र धारण करने वाली ! अनन्त श्रीसम्पन्ना अनन्तकालस्थायिनि ! हे अनन्त शक्ति-प्रदायिनि ! अपने सन्तानों को शक्ति दो ! हम तुम को क्या कह कर पुकारें मैया ? हम इन ३२ करोड़ सिरों को इन चरणों के ऊपर गिरावेंगे, सब मिलकर ३२ करोड़ कण्ठों से तुम्हारा नाम ले कर हुंकार करेंगे, ३२ करोड़ शरीर तुम को अर्पण कर देंगे । न हो सकेगा तो ६४ करोड़ आँखों से तुम्हारे लिए रोएँगे। आओ मैया, घर में आओ, जिस के ३२ करोड़ बच्चे हैं उसे चिन्ता काहे की ?"

देखते ही-देखते वह प्रतिमा उसी अनन्त काल समुद्र में डूब गई, फिर न देख पड़ी ! अन्धकारमय आकाश तक वह तरंगपूर्ण जलराशि व्याप्त हो गई, उसी में सारा विश्व-संसार डूब गया । तब मैं व्याकुलता से आँखों में आँसू भर के हाथ जोड़ कर पुकारने लगा—"उठो मैया स्वर्णमयी भारतमाता ! उठो मैया, अब हम सपूत हो कर सुराह चलेंगे, तुम्हारा सिर ऊँचा करेंगे । उठो मैया, देवी, देवताओं पर अनुग्रह करने वाली। अब हम नीच स्वार्थपरता छोड़ कर भ्रातृवत्सल बनेंगे,

औरों का मंगल साधेंगे । अधर्म, आलस्य, इन्द्रियों की भक्ति छोड़ देंगे । उठो मैया, हम अकेले पड़े रो रहे हैं, रोते-रोते आँखें फटी जाती हैं, मैया ! उठो-उठो मैया, भारतमाता !

मैया नहीं उठीं ! क्या नहीं उठेंगी ?

आओ भाइयो, चलो हम इसी अन्धकारमय काल-सागर में कूद पड़ें । आओ, हम सब ६४ करोड़ भुजाओं से माता की मूर्ति उठाकर, ३२ करोड़ सिरों पर लाद कर, अपने-अपने घर ले आवें । आओ, अन्धकार है तो डर क्या है ? ये जो नक्षत्र बीच-बीच में दिखाई पड़ते हैं, वे ही राह दिखावेंगे। चलो, चलो, असंख्य भुजाओं से इस काल-सागर को ताड़ित-मथित और व्यस्त करके हम तैरेंगे, उस स्वर्ण प्रतिमा को मस्तकपर रखकर ले आवेंगे । डर क्या है ? न होगा, डूब जाएँगे । बिना माता के यह जीवन किस काम का ? आओ, प्रतिमा को उठा लावें । पूजा की बड़ी धूम धाम होगी । हम लोग उसी मातृपूजा के अवसर पर विरोध-बकरे को सत्कीर्ति के खड्ग से मैया के आगे भेंट चढ़ावेंगे (बलिदान करेंगे), पूर्व समय के कितने ही ऐतिहासिक शंख बजाकर माता का गुण गान करेंगे । कितनी ही शहनाइयाँ भैरवी और सोहनी में माता की महिमा सुनावेंगी, और हम आनन्दविह्वल होकर नाचेंगे । पूजा की बड़ी भारी धूम होगी, अनेकों ब्राह्मण विद्वान्, जमा होंगे और कहेंगे जय अम्बे-अम्बिके-अम्बालिके—

शरणागत दीनार्त्तपरित्राणपरायणे ।
सर्वस्यार्तिहरे देवि नारायणि नमोऽस्तुते ॥

कितने ही देशी परदेशी सज्जन ऊँच नीच सब आकर मैया के चरणों में प्रणाम करेंगे । कितने ही दीन दुखी प्रसाद

खाकर पेट पालेंगे । कितनी ही अप्सरायें नाचेंगीं, गन्धर्वगण गायेंगे। कितने ही करोड़ भक्ति गद्गद होकर पुकारेंगे—मैया! मैया! मैया!—

जय जय दात्री जय धात्री, जय दुर्गे दुर्गतिहर्त्री।
जय वरदायिनि जय सुखदे, जय भगवति मङ्गल कर्त्री॥
खल-दल-दलिनी शान्तिमयी, जय स्वर्णभूमि, जय सिन्धुसुते।
जन्मभूमि जय जय जय जननी, कोटि कोटि सन्तानयुते॥
चिदानन्द-जननी हे देवी, जगदम्बे आनन्दमयी।
पुत्रों को ले लगा हृदय से, जिस से हम हों जगज्जयी।
पाप, ताप, भय, शोक मिटे, भक्ति, शक्ति, उत्साह बढ़े।
राग-द्वेष, आलस्य, हटे, भ्रातृभाव का रंग चढ़े॥

—श्री चिदानन्द चतुर्वेदी।
(चौबे का चिट्ठा)

[अनुवादक—पण्डित रूपनारायण पाण्डेय]

तुम हो !

(श्रीयुत् रामपलट सिंह एम० ए०)

यदि तुम हो तो कहाँ हो ? लाख प्रयत्न करने पर भी तुम्हारा कहीं पता नहीं चलता है। किस परदे में छिपे हो ? क्यों छिपे हो ? अपने इन अबोध बालकों के साथ हास्य-क्रीड़ा तो नहीं कर रहे हो ? अपने अनन्त करों से संसार की आँख मूँद कर क्या आँख-मिचौनी खेल रहे हो ? यह कौतुक कब तक करते रहोगे ? जाने दो यह लड़कपन तुम्हें शोभा नहीं देता। तुम तो छिपकर अलग बैठे हमारी विकलता देखकर मुस्करा रहे होगे और इधर हमारे हृदय का अज्ञात धन खोजे नहीं मिलता। अब तो यह लीला बन्द करो। अब तो बाहर निकल आओ। बड़े निठुर हो। कब तक संतोष किए बैठे रहें ? तुम्हारे स्वागत के लिये आँखें बिछ गईं। पर तुम न जाने कहाँ आसन मारे बैठे हो। हमारे करुणक्रंदन से तुम्हारा आसन तनिक भी नहीं डिगता है। तुम्हारा दर्शन पाना दुर्लभ हो गया है।

पिता, तुम सचमुच वज्र-हृदय हो। तुम्हारा हृदय तनिक भी नहीं पसीजता है। अपनी संतान के प्रति ऐसी उदासीनता ! ऐसा कठोर व्यवहार ! ऐसा अत्याचार ! अब हम पिता की मृग-तृष्णा में आत्म विडम्बना न करेंगे। हमारा कोई पिता नहीं है। हम आप से आप हुए हैं। हम परमाणुओं से बने हैं। यह सारी सृष्टि स्वयंभूः है। तुम कोई नहीं हो। तुम किसी के पिता नहीं हो। तुम हो ही नहीं। तुम यदि हो तो तुम्हारा

अस्तित्व मिटाना पड़ेगा। तुम्हारे प्रतिकूल विद्रोह का झण्डा उठाना पड़ेगा। तुम हमारे कोई नहीं हो।

कहते हैं तुम सृष्टि-कर्त्ता हो, परमात्मा हो, सब के पालन करने वाले हो, धर्म-संस्थापक हो, न्यायशील हो, दीन-बन्धु हो। तुम कुछ भी नहीं हो। तुम्हारा अस्तित्व ही नहीं है। संसार में कहाँ न्याय है? कहाँ धर्म है? तुम किसका पालन कर रहे हो? तुम किस दीन के करुण-क्रन्दन पर पसीजते हो? चारों ओर अत्याचार-पीड़ित जनों का हा-हा-कार है, परन्तु उसे तुम सुनते कब हो? संसार में कौनसा न्याय तुम कर रहे हो कि न्याय शील कहलाते हो? यहाँ न्याय कहाँ है? सज्जन दुखी, असज्जन सुखी हैं। विद्वान् ठोकर खा रहे हैं, मूर्ख गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। ज्ञानी दुःख में डूब रहे हैं और अज्ञानी सुख से ऊँघ रहे हैं। आध्यात्मिकता अपना दुखड़ा रो रही है। और पाशविकता विजय का डंका बजा रही है। सदाचारी प्रायः विफल-मनोरथ हैं और दुराचारियों के हाथ में सफलता की कुंजी है। सती स्त्रियाँ दीना-मलीना हैं और असतियों के पौ बारह हैं। क्या यही तुम्हारा न्याय है? यहाँ धर्म कहाँ है? धर्माडम्बर की ही तो सर्वत्र विजय दीख पड़ती है। धर्म की आड़ में शिकार करने वालों की संख्या दिन-दिन बढ़ रही है। तो तुम धर्म संस्थापक क्यों अपने को कहते हो? देखते नहीं हो, तुम्हारे प्रतिकूल कैसा भयंकर विद्रोह है?

तुम्हारे पितृ-भक्त पुत्र कहते हैं कि तुम हो। तुम शुद्ध हृदय में हो, विश्वास में हो, श्रद्धा में हो, भक्ति में हो और ईश्वर-प्रणिधान करने वाले ज्ञानियों के ज्ञान में हो। सच-मुच भक्तों की विमल वाणी सुनकर तुम्हारे अस्तित्व में एक बार विश्वास

हो उठता है, तुम्हारे प्रति श्रद्धा हो जाती है, तुम्हारे चरणों में प्रेम हो जाता है और हृदय में पितृ-भक्ति के निर्मल भाव लहराने लगते हैं। तुम्हें देखने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। थोड़ी देर के लिये हृदय पवित्र हो जाता है और उसमें तुम्हारी अनन्त ज्योति की एक किरण अपना अलौकिक प्रकाश दिखाने लगती है। परन्तु फिर हृदय सांसारिकता के स्वार्थ-मय भावों से मलिन हो जाता है और वह परमानन्द-प्रद प्रकाश अदृश्य हो जाता है। क्षणिक प्रकाश के अनन्तर हृदय अनन्त अन्धकार का आश्रम बन जाता है। फिर 'पिता-पिता' कह कर पुकारने पर तुम्हारा पता नहीं चलता। पिता तुम इस प्रकार अपनी झलक दिखाकर हमें तरसाते क्यों हो? प्रभो, हम विस्मृतशील निर्बल प्राणी हैं। बिना तुम्हें भर आँख देखे हमारा विश्वास अटल नहीं हो सकता। हमारा हृदय चञ्चलता का आगार है।

हाँ, उस दिन की याद है। उस घटना की स्मृति अब तक हृदय में है। काशी का मणिकर्णिका-घाट था। भाई का शव दाह-क्रिया के लिये रक्खा था। चिता में आग लगा दी गई और अग्नि की लपटें शव का आलिङ्गन करके मारे आनन्द के अट्टहास करने लगीं। उसी प्रकार के असंख्य स्पन्दन-शून्य रक्त-मांस के पुतले अग्नि का हृदय शीतल कर रहे थे। माँ गंगा की लहरें यह प्रेमालिङ्गन देख कर खिलखिला के हँस रही थीं। मैं यह सब कुछ खड़ा-खड़ा देखता रहा। मेरा हृदय शून्य था। मुझे ज्ञात नहीं यह सब क्या हो रहा था। मुझे सारा संसार शून्य दिखाई देने लगा। शून्य हृदय ने कहा—'सर्वं-शून्यम। सर्वं शून्यम।' उस सर्वत्र-व्यापी शून्यता में केवल एक

के अस्तित्व में आपसे आप विश्वास हो उठा। हृदय पुकार-पुकार कर कहने लगा कि कहीं कुछ नहीं है। केवल तुम हो। पिता, तुम्हारे अतिरिक्त सब कुछ भ्रम-जाल है। घर आने पर चार छः दिन के बाद हृदय की शून्यता मिटने लगी और संसार आँखों पर चढ़ने लगा। हृदय ने स्वस्थ हो कहा—सब कुछ है। परन्तु तुम नहीं हो। पिता, क्या सब कुछ खो देने ही पर तुम आते हो? बड़ी कड़ी शर्त है।

तुम इसी तरह कभी कभी अपनी झलक दिखाया करते हो। उस दिन की घटना की याद आने पर आज भी हृदय आनन्द से झनझना उठता है। विद्यालय में बड़े दिन की छुट्टी हुई। हम लोग घर जाने के लिये तैयार हुये और आवश्यक सामान लिये स्टेशन आए। गाड़ी के आने में अभी कुछ देर थी। मैं टहलते-टहलते स्टेशन की दूसरी ओर चला आया और देखा कि पुल के पास एक मुसलमान बुढ़िया अपनी बड़ी गठरी रक्खे कराह रही है। मैं ने पूछा—बुड्ढी, क्या हुआ है? उत्तर मिला-"बेटा मैं दूर से आ रही हूँ। यहाँ गाड़ी की बदली हुई है। मेरा बेटा कलकत्ते में नौकरी करता है। मुझे वहीं जाना है। कलकत्ते वाली गाड़ी में जा रही थी और ठोकर खाकर यहीं गिर पड़ी। अब चला नहीं जाता है।" मैं ने चुपचाप बुढ़िया की गठरी उठा ली और उस की एक बाँह पकड़ कर धीरे-धीरे सहारे देते आगे चला। बुढ़िया चोट खाने के कारण चींटी की चाल चलती थी, और पुल पर से घूम कर दूर जाना था। इस लिये गाड़ी में पहुँचने के पहले ही मेरी गाड़ी सीटी देकर चलती बनी। मैं मन ही मन कुढ़ने लगा। कहाँ से आकर बला में फँसा। अब तो बारह घंटे के बाद गाड़ी मिलेगी। मैं ने अपने

सामान भी किसी को सुपुर्द नहीं किये थे । अतः उन के खो जाने की भी सम्भावना थी। परन्तु अब क्या कर सकता था ? मैं बुढ़िया को लिये आगे बढ़ा। उसे गाड़ी में बिठा कर उदास हो चलने को उद्यत हुआ । बुढ़िया ने चलते समय अपनी कृतज्ञता-पूर्ण डबडबाई आँखों से मेरी ओर देखा और कहा, 'बेटा परवरदिगार तेरा भला करेगा ।' उस की आँखों को देख कर मेरी उदासी दूर हो गई । मेरे हृदय में एक विचित्र भाव की बिजली दौड़ गई । वे आँखें अब भी याद आने पर मेरी ओर देखती-सी प्रतीत होती हैं । उन में एक विलक्षण आनन्द-दायिनी शक्ति थी। मुझे प्रतीत हुआ कि कोई अपार्थिव-शक्ति उन में बैठी मेरी ओर चाव से देख रही है। उन में तुम्हीं तो नहीं थे ? मैं वहाँ से चुपचाप चला आया। बुढ़िया के वे शब्द अब तक मेरे अन्तस्तल में गूँज रहे थे मेरा हृदय आनन्दाधिक्य से क्षुब्ध हो उठा । परवरदिगार मेरा भला करेगा, अवश्य भला करेगा। देव वाणी झूठी नहीं होती । मुझे चारों ओर आत्म-कल्याण दिखाई देने लगा। मालूम पड़ा कि किसी की कोमल उँगलियाँ मेरे हृदय को गुद-गुदा रही हैं । तुम्हारे अतिरिक्त वैसी आनन्द-प्रसविणी और किस की उँगलियाँ हो सकती थीं ? पिता, क्या तुम पहले अपने बालकों के खिलौने को छीनकर दूर फैंककर उन्हें खिन्न करते हो—तब फिर गुद-गुदा कर उन्हें हँसाने लगते हो। बड़े मौजी हो।

तुम्हारी विचित्र आनन्द-क्रीड़ा की एक घटना और याद आ गई। असहयोग का ज़माना था । एक दिन जेल के फाटक पर भीड़ थी। जिज्ञासावश मैं वहीं जा पहुँचा और एक करुणा-जनक दृश्य देखा । कारावास-दण्ड-भोगी एक असहयोगी

अपने पिता, भाई इत्यादि स्वजनों से विदा हो रहा था। दोनों ओर आसुओं की झड़ी लगी थी। अन्त में जेल में जाते समय मैं ने एक बार उस के मुँह की ओर देखा। है यह क्या? वहाँ तो अधीरता या व्याकुलता लेश-मात्र भी नहीं था। उस की आँखों से दृढ़ता के भाव टपक रहे थे। खिले चेहरे पर आनन्द क्रीड़ा करता प्रतीत होता था। होठों पर एक मन्द मुसकान का विलास था। ऐसे कठिन काल में ऐसा हर्षोद्रेक तो पार्थिव कदापि नहीं हो सकता। उस के मुख पर तुम्हारे प्रकाश की एक ज्योति थी। तुम स्वयं वहाँ क्रीड़ा कर रहे थे। विचित्र विलासी हो। पिता, स्वार्थ त्याग कर परमार्थ के लिये काल के मुँह में जाने वालों के हृदय में अपना प्रकाश दिखाते हो? ऐसी कड़ी परीक्षा में तो विरले ही खरे उतरेंगे।

प्रभो, तुम तो सर्वव्यापी हो। एक एक परमाणु में तुम्हारा अस्तित्व है। तुम्हारी सत्ता के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता। परन्तु तुम तो कहीं प्रत्यक्ष दिखाई नहीं देते। इस प्रकार छिपे क्यों रहते हो। नहीं, मैं ही भूल रहा हूँ। तुम छिपे कहाँ हो? तुम तो पद पद पर प्रत्यक्ष हो। अधखिले फूलों में तुम्हीं बैठकर मुस्कराते हो न? पक्षियों के स्वर में स्वर मिलाकर तुम्हीं कलरव करते हो न? आकाश के नक्षत्रों में तुम्हीं चमकते हो न? पवित्र दाम्पत्य प्रणय में तुम्हारी ही विलासिता है न? तुम अपना प्रत्यक्ष दर्शन तो कभी दिखलाते नहीं। जहाँ-तहाँ एक झलक दिखा देते हो और फिर परदे में छिप जाते हो। तो क्या तुम्हें परदे में रहने से इतना प्रेम है। अच्छी बात है। परदे में ही रहो। परन्तु एक प्रार्थना मान लो। आओ। 'आँखों में समा जाओ, परदे में रहा करना'–(सरस्वती, मार्च १९२८)

देवि, अहिंसे !

(श्री चतुरसेन शास्त्री)

हे देवि, अहिंसे ! तुम कौन हो, क्या हो ?

गाँधी का तुम सत्य हो ; कृष्ण का कर्मयोग और ईसा की क्षमा हो; भगवान् महावीर और बुद्ध की प्रकृति हो; भ्रान्तिवादी की निरर्थक निस्सारता और नास्तिक की अयथार्थ शून्यता हो; विद्वान् की समाजिक आवश्यकता और जन साधारण की आदर्शमरीचिका हो ; हे मेरी आराध्ये, तुम कौन हो ?

अवतार तुम्हारी ज्योति की विलक्षणता की एक—केवल एक—रेख लेकर उतरे। उसी एक रेख के विकास के लिये, उस के चित्रण के लिये, उसी रेख के भीतर और चारों तरफ़ उन्हों ने अपना जीवन रचा। किन्तु क्या वह जीवन-चित्र उतना ही निर्मल रह सका ? क्या उस में ज़रा मैल नहीं आ गया ? कहीं अँधेरे का मैल, कहीं प्रकाश का मैल ! कहीं फीका रंग, कहीं तेज़ रंग! देवि, क्या सचमुच वे चित्र तुम्हारी शुद्ध नैसर्गिकता पूरी-पूरी चित्रित कर सके ? और देवि, क्या वे चित्र सब-के-सब मिलकर तुम्हें पूरा-पूरा ढक सकते हैं ? क्या यह सच नहीं है कि तुम अनन्त हो, असीम हो—असंख्य व्यक्तित्व भी मिलकर तुम को पूरी तरह नहीं नाप सकते। और तुम रंग-हीन हो, कोई चित्र हठात् तुम से मिल जाने का दम्भ नहीं भर सकता।

उन अवतारों की शिक्षाओं में से मथ निकालकर तुम्हारे सच्चे सीधे स्वरूप को अपने हृदय में प्रत्यक्ष जाग उठने की लालसा में, देवि, मैं असफल रहा हूँ। उन के तत्त्व मंथन में, तुम्हारी अनुभूति पाता हूँ, पर खो-खो जाता हूँ। तुम्हारी अनन्त विचित्रता में विस्मय-विमुग्ध होकर तुम्हारी उस एकान्त सरलता तक नहीं पहुँच पाता। विवर्णों की विवर्णता में ही लुब्ध होकर उलझा रह जाता हूँ, उन के सामंजस्य, उन के उद्गम, उस तुम्हारे सरल, शुद्ध, शुभ्र धवल प्रकाश तक नहीं पहुँच पाता। यह तुम्हारा धौला स्वरूप कैसा है, देवि ?

तुम्हारी महत्ता देखता हूँ, हर जगह; तुम्हें नहीं देख पाता कहीं भी। तुम्हारी पूजा सब जगह है, पर मूर्ति कहाँ है ? तुम्हारी अनुभूति पाता हूँ, तुम्हारे दर्शन नहीं पाता। देवि, तुम कैसी हो ?

अष्ट-भुजा-धारिणी, संहार-रूपिणी, शक्ति की माँ, माँ महादुर्गा, क्या तेरे ही एक रूप का विभास नहीं है ? उन की विदारणाओं में मैं तेरी ही विभूति की विचित्रता के एक रूप का दर्शन पाने का जो मैं प्रयास करता हूँ—सो क्या मैं भूलता हूँ ? मेरी देवि ! मैं तुम्हें जानता नहीं, जानना चाहता हूँ। बतलाओगी क्या ?

तुम तो शक्ति के प्रकृष्टतम—उच्चतम रूप की देवि हो न ? तुम्हारे उस रूप की कल्पना जब तुम मूर्तिमती शक्तिमत्ता होते हुये भी मधुर प्रीति पूर्ण मुसकान के साथ आपदाओं का आवाहन करती हो, उन आपदाओं को अपनी विह्वलता के रस में डुबोकर, आत्मीय बना छोड़ने के लिये—वह रूप मुझे शान्ति

और रस प्रदान करता है। प्रीति-विह्वलता से आपदाओं का पिघलकर, आर्द्र होकर, तुम्हारे चरणों पर बह पड़ना, विश्व के तमाम स्नेह से भरकर मुझे स्तम्भित कर देता है। उस की परम अलौकिकता की अनुभूति में, क्षण भर विस्मृति-लोक में पहुँच कर सम्भ्रम में आ पड़ता हूँ। डरता हूँ—कहीं यह अवास्तविक तो नहीं ? यह दृष्य इतना महीयान, इतना विराट् और लोकोत्तर है।

मुझे तो जूझने की हौंस भरने के लिये तुम्हारे उस रूप की कल्पना ज्यादे प्यारी लगती है, जब तुम अपनी दृष्टि से तीव्र ज्योति फेंक कर उन आपदाओं को विध्वंस कर डालती हो। आपदाओं का तुम्हारी आँख की विषम ज्योति में भस्म हो रहना मुझे अपनी अलौकिकता से भर देता है-भुला नहीं देता। मैं उस से अपने भीतर की शक्ति की सजगता अनुभव करने लगता हूँ, मैं उस से स्फूर्ति और क्षमता पाता हूँ-स्तम्भित स्तब्ध नहीं हो जाता। पर देवी, तुम्हें इस रूप में कल्पना करना कहीं अपराध—अक्षम्य-अपराध—तो नहीं है ?

देवि, मैं तुम्हें जानता नहीं हूँ। तुम्हारे दर्शनों का प्यासा हूँ और इन कल्पनाओं से ही अपनी प्यास बुझाता हूँ। ये कल्पनाएँ अपूर्ण तो रहेंगी ही। पूर्णता मुझ से बर्दाश्त न होगी। उस की अनिर्वचनीय, विकट अनंत विचित्र सरलता को हृदयस्थ करने में मैं पागल हो जाऊँगा। रूप की प्रखरता से अन्धा हो जाऊँगा; उस के सत्य की ज्वाला में जल जाऊँगा और शान्ति की तीक्ष्णता से गल जाऊँगा, उस के प्रेम के व्यापक प्लावन में विलीन हो जाऊँगा और उस की विश्व-विस्तीर्ण क्षमा में कहीं का न रहूँगा। परन्तु एक झाँकी की कल्पना में भी तो यथार्थता का अवबोध

होना ही चाहिये। देवि बताओगी मुझे प्यारी लगने वाली तुम्हारे रूप की वह कल्पना यथार्थता के विपरीत तो नहीं है ?

मेरा हठ है, तुम्हारे अनन्त वैषम्य में शीतलता को स्थान है, तो शीतलता को शीतलता देने वाली उष्णता को भी स्थान है। मंजुलता है, तो उग्रता भी है। नितान्त शान्ति ही नहीं, अशान्ति भी है। भावनाओं की मृदुता के साथ उन की उत्कटता भी है। नर्मी भी है और तेज़ी भी है। हाँ, जो असत्य है और जो अन्याय है, उस को वहीं अवकाश नहीं। लेकिन जो भी सत्य है, रुखा हो या स्निग्ध, तीखा हो या मधुर, और जो भी न्याय है—दण्ड हो या क्षमा—वह सब तेरी विषमता की गोद में स्थान पा सकता है। मेरा यह हठ, देवि, क्या बिलकुल अक्षम्य है ?

देवि! मैं तुम्हारी यर्थाथता की झाँकी पाने को मरा बैठा हूँ। क्या मालूम, कितना अन्याय और असत्य है, जो तुम्हारे नाम पर सहा जाता और प्रतिष्ठा पाता है। और कितना सत्य है, जो तेरे अन्धे भक्तों के द्वारा अपमानित और लाछित किया जाता है! देवि, तुम्हारी प्रतिष्ठा की इस छीछालेदर को देखकर कितने ही सत्य-प्रेमियों ने तुम्हारा नाम लेना छोड़ दिया है। देवि, क्या तुम अब अपनी यथार्थता की आभा की रेख न दिखलाओगी ?

मैं, और सत्य का प्यासा सब संसार तुम्हारे दर्शन पाने की प्यास से कटीला हो रहा है। देवि, दर्शन दो। अपने जीवन की सब कामनाएँ बिछा कर उस आदर्श के स्फटिक-सिंहासन पर विश्व की सब मंजुल भावनाओं से तुम्हारा अभिषेक करेंगे।

पर देवि, आवश्यकता तुरन्त है और वह आवश्यकता

क्षण-क्षण भीषण और अनिवार्य होती जा रही है । आज अन-गिनत मतामत न जाने किन सूखी धारणाओं को तेरे नाम पर अपना उपास्य बना कर अन जाने तेरी हत्या कर रहे हैं। सत्य को वे पाते भी हैं, तो इस ज़ोर से, इस उतावली से घोंटकर उसे पकड़ेत हैं कि वह पिच-पिचाकर नष्ट हो रहता है । उसे हवा नहीं लगने देते और चिपटकर उसे ऐसे कसते हैं कि उस का जीवन कुचल जाता है। यह मनुष्यों का स्वभाव कैसा है, देवि ! वे जो, देवि, इस हत्या से अलग हैं, कितने थोड़े हैं और कितने दिन इस तरह बिना तुम्हें देखे, बिना आधार के कायम रह सकते हैं ? देवि, शीघ्र अपने सत्य-स्वरूप के दर्शन दो। विश्व तरस रहा है उस के लिये। देर हुई तो वह किस सांसा-रिकता को तुम्हारे आसन पर बैठाकर, आत्म-नाश के किस जघन्य मार्ग में पड़ जावेगा—क्या ठिकाना।

देवि, दर्शन दो, पर संसार से विच्छिन्न, ऐहिकता से उदासीन तपस्यारत रूप का नहीं। उस रूप को तो गांधी जैसे निर्लिप्त योगियों की कुटियों में प्रस्फुट करना । हमें तो उस रूप की झाँकी दिखाओ, जिसे हृदयासन पर आसीन कर, आत्मा में खचित कर हम संसार और आध्यात्म के सांसारिक आदर्श की ओर अक्षुण्ण गति से चलें।

(विशाल-भारत, अगस्त १९२८)

———

चन्द्रोदय

(पण्डित बालकृष्ण भट्ट)

अँधेरा पाख बीता, उजेला पाख आया। पश्चिम की ओर सूर्य डूबा और वक्राकार हँसिया की तरह चन्द्रमा उसी दिशा में दिखलाई पड़ा। मानो कर्कशा के समान पश्चिम दिशा सूर्य के प्रचण्ड ताप से दुखी हो क्रोध में आ इसी हँसिया को लेकर दौड़ रही है और सूर्य भयभीत हो पाताल में छिपने के लिये जा रहा है। अब तो पश्चिम की ओर आकाश सर्वत्र रक्तमय हो गया। क्या सचमुच ही इस कर्कशा ने सूर्य का काम तमाम किया, जिस से रक्त बह निकला ? अथवा सूर्य भी क्रुद्ध हुआ, जिस से उस का चेहरा तमतमा गया और उसी की यह रक्त आभा है ? इस्लाम-धर्म के मानने वाले नए चन्द्र की बहुत बड़ी इज़्ज़त करते हैं, सो क्यों ? मालूम होता है, इस लिये कि दिन-दिन क्षीण होकर नाश को प्राप्त होता हुआ चन्द्रमा मानो सबक़ देता है कि रमज़ान में अपने शरीर को इतना सुखाओ कि वह नष्ट हो जाय, तब देखो कि उत्तरोत्तर कैसी वृद्धि होती है। अथवा यह काम-रूपी श्रोत्रिय ब्राह्मण के नित्य जपने का ओंकार महामन्त्र है; या अन्धकार महागज के हटाने का अंकुश है; या विरहिणियों के प्राण कतरने की कैंची है; अथवा श्रृङ्गार-रस से पूर्ण पिटारे के खोलने की कुञ्जी है; या तारा-मौक्तिकों से ग्रथे तारा के बीच का यह सुमेरु है; अथवा जङ्गम जगत्-मात्र को डसने वाले अनङ्ग-भुजङ्ग के फन पर का यह चमकता हुआ

मणि है; या निशा-नायिका के चेहरे की मुसकराहट है; या सन्ध्या नारी के काम-केलि के समय उस की छाती पर लगा हुआ नख-क्षत है ; अथवा जगज्जेता कामदेव की धन्वा है ; या तारा-मोतियों की दो सीपियों में से एक सीपी है ।

इसी प्रकार दूज से बढ़ते-बढ़ते यह चन्द्र पूर्णिमा को पहुँचा । यह पूनों का पूरा चाँद किस के मन को न भाता होगा ? यह गोल-गोल प्रकाश का पिण्ड देख भाँति-भाँति की कल्पनाएँ मन में उदय होती हैं कि क्या यह निशा-अभिसारिका के मुख देखने की आरसी है; या उस के कान का कुण्डल अथवा फूल है; या रजनी-रमणी के ललाट पर बुक्के का सफ़ेद तिलक है ; अथवा स्वच्छ नीले आकाश में यह चन्द्र मानो त्रिनेत्र शिव की जटा में चमकता हुआ कुन्द के सफ़ेद फूलों का गुच्छा है ; काम-वल्लभा रति की अटा में कूजता हुआ यह कबूतर है ; अथवा आकाश-रूपी बाज़ार में तारारूपी मोतियों का बेचने वाला सौदागर है । कुईं की कलियों को विकसित करते, मृग-नयनियों के मान को समूल उन्मीलित करते, छिटकी हुई चाँदनी से सब दिशाओं को धवलित करते, अन्धकार को निगलते चन्द्रमा सीढ़ी-दर-सीढ़ी शिखर के समान आकाश-रूपी विशाल पर्वत के मध्य भाग में चढ़ा चला आ रहा है । क्षपा-तमस्काण्ड का हटाने वाला यह चन्द्रमा ऐसा मालूम होता है, मानो आकाश-महासरोवर में श्वेत कमल खिल रहा है, जिस में बीच-बीच जो कलङ्क की कालिमा है सो मानो भौंरे गूँज रहे हैं । अथवा सौंदर्य की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी के स्नान करने की यह बावड़ी है; या कामदेव की कामिनी रति का यह चूना-पोता धवल गृह है ; या आकाश-गङ्गा के तट पर विहार

करने वाला हंस है, जो सोती हुई कुइयों के जगाने को दूत बन कर आया है; या देव-नदी आकाश-गङ्गा का पुण्डरीक है; या चाँदनी का अमृतकुण्ड है; अथवा आकाश में जो तारे देख पड़ते हैं, वे सब गौएँ हैं उन के झुण्ड में यह सफेद बैल है; या यह हीरे से जड़ा हुआ पूर्व-दिगंगना का कर्ण-फूल है; या कामदेव के बाणों को चोखा करने के लिये सान धरने का सफ़ेद गाल पत्थर है; या सन्ध्या नायिका के खेलने का गेंद है। इस के उदय के पहले सूर्यास्त की किरणों से सब ओर जो ललाई छा गई, सो मानो फागुन में इस रसिया चन्द्र ने दिगङ्गनाओं के साथ फाग खेलते में अबीर उड़ाई है, वही सब ओर आकाश में छाई हुई है। अथवा निशा-योगिनी ने तारा-प्रसून-समूह से कामदेव की पूजा कर यावत् कामीजनों को अपने वश में करने के लिये छिटकी हुई चाँदनी के बहाने वशीकरण-बुक्का उड़ाया है; अथवा स्वच्छ नीले नल से भरे आकाश हौदा में काल महागणक ने रात के नापने को एक घण्टी-यन्त्र छोड़ रक्खा है; अथवा जगद्विजयी राजा कामदेव का यह श्वेत छत्र है; वियोगीमात्र को कामाग्नि में झुलसाने को यह दिनमणि है; कन्दर्प-सीमांतिनी रति देवी की छप्पेदार करधनी का टिकड़ा है, या उसी में जड़ा चमकता हुआ सफ़ेद हीरा है; या सब कारीगरों के सिरताज आतशबाज़ की बनाई हुई चरखियों का यह एक नमूना है; अथवा महापथगामी समय-राज के रथ की सूर्य और चन्द्रमा-रूपी दो पहियों में से यह एक पहिया है, जो चलते-चलते घिस गई है, इसी से बीच में कलाई देख पड़ती है अथवा लोगों की आँख और मन की तरावट और शीतलता पहुँचाने वाला यह बड़ा भारी बर्फ़ का कुण्ड है, इसी से वेदों

ने परमेश्वर के विराट्-वैभव के वर्णन में चन्द्रमा को मन और नेत्र माना है ; या काल-खिलाड़ी के खेलने का सफ़ेद गेंद है। समुद्र के नीले पानी में गिरने से सूखने पर भी जिस में कहीं-कहीं नीलिमा बाक़ी रह गई है, या तारे-रूपी मोतीचूर के दानों का यह बड़ा भारी पंसेरा लड्डू है ; अथवा लोगों के शुभाशुभ का लेखा लिखने के लिये यह बिल्लौर की गोल दावात है; या खड़िया-मिट्टी का बड़ा भारी ढोंका है; या काल-खिलाड़ी की जेबी घड़ी का डायल है ; या रजत का कुण्ड है ; या आकाश के नीले गुंबज में यह संगमरमर का गोल शिखर है। शिशिर और हेमंत में हिम से जो इस की द्युति दब जाती है, सो मानो यह तपस्या कर रहा है, जिस का फल यह चित्रा के संयोग से शोभित हो चैत्र की पूनो के दिन पावेगा, जब इस की द्युति फिर दामिनी-सी दमकेगी। इसी से कवि-कुल-गुरु कालिदास ने कहा है—

"हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव।"

(साहित्य-सुमन)

कला

(चन्द्रगुप्त विद्यालंकार)

विश्व के इस खुले रंगमंच पर हम रोज़ खेल ही तो देखते हैं। प्रभात काल की इस सुनहली धूप में, अपने मकान की खुली छत पर बैठ कर मैं ये पंक्तियां लिख रहा हूं। मेरे समने सैंकड़ों मज़दूर काम कर रहे हैं। वृक्ष काट दिए गए हैं, ज़मीन खोद डाली गई है। एक तरफ़ मिट्टी के ऊंचे-ऊंचे अम्बार खड़े हैं। दूसरी तरफ़, जैसे दुनियांभर का ईंट, पत्थर और चूना यहीं लाकर जमा कर दिया गया है। यहां एक बैंक की आलीशान इमारत बनेगी। आज से सिर्फ़ तीन दिन पहले तक यहां एक सुन्दर पार्क था। अब उस का अभास तक ढूँढ़ना भी कठिन है।

अभी पांच-छः दिनों की बात है, मैं एक स्थानीय पत्र के सम्पादक महोदय से मिला था; तब वह तन्दरुस्त थे, खुश थे और निश्चिन्त थे। आज अभी-अभी मैं ने आज के अखबार में पढ़ा है कि कल उन का देहान्त हो गया। उन्हें नमोनिया हो गया था और इतना शीघ्र उन्हें अपने साथ ले गया। आज उन के घर में मातम मचा होगा।

मेरे पिछवाड़े में, कुछ ही दूरी पर, एक प्रतिष्ठित एडवोकेट रहते हैं। उन की एक कन्या थी। उन्हीं का घर उस का भी घर था। अभी पिछले सप्ताह प्रतिदिन, रात के समय, उन के घर से शहनाई बजने की आवाज़ मुझे सुनाई देती रही। एक

रात उज्ज्वल रोशनी और बाजे-बाजे के साथ एक बरात भी, इसी नीचे की सड़क पर से गुज़री थी। कल रात उस ओर फिर से सन्नाटा दिखाई दिया। मालूम हुआ है कि उस कन्या का विवाह हो गया है और वह अपने नए घर में चली गई है।

यहां प्रति समय, प्रति दिन और प्रति क्षण परदे बदलते रहते हैं। नया-नया दृश्य सामने आता रहता है। यही सब तो 'सत्य' है। इन्हें देखिए, इन्हें समझिए और इन्हें लिख डालिए—वही 'कला' होगी।

× × ×

वर्षाऋतु का इन्द्रधनुष देखा होगा आपने। कितना सुन्दर प्रतीत होता है। जैसे वह घट-घट व्यापी महान विश्व-भर में स्वयं ही कोई उत्सव करना चाहता हो, और इस उत्सव के लिए उस ने इस पृथिवी की एक सम्पूर्ण दिशा ही सजा डाली हो। मगर इस सुन्दर इन्द्रधनुष का उद्देश्य तो कुछ भी नहीं। न वह धूप रोकता है, न वर्षा करता है और न ऋतु पर ही कोई प्रभाव डालता है। वह तो प्रकाश की किरणों का खेल-मात्र ही है। फिर इस निरुद्देश्य चीज़ की रचना में, इस के नियन्ता का उद्देश्य क्या है? और तो कुछ भी नहीं; केवल क्रीड़ा-कौतुक। कवि भी वैसे ही अपने काव्य की सृष्टि करता है। आत्मतोष को छोड़ कर उस का अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता। फिर भी वह सुन्दर होता है और सुन्दरता की सृष्टि, अपने ही में, क्या कोई कम श्रेष्ठ लाभ है?

× × ×

मुझ से अगर कोई पूछे कि कला का उद्देश्य क्या है, तो

मैं जवाब दूँगा—"कुछ भी नहीं !" कला स्वयं अपना उद्देश्य है। कला का क्षेत्र असीमित है। उसे आप बांध नहीं सकते। वह स्वच्छन्द और स्वतन्त्र है। हमारी-आप की दृष्टि में, जो विषय घृणित से भी घृणित हैं, उन में भी कला का विकास हो सकता है। परन्तु इन जघन्य क्षेत्रों में भी कला रहती है अपने पूर्णतया स्वच्छ और निर्मल रूप में ही। ठीक इस तरह से, जैसे कमल पानी में रहता है। पाप और पुण्य, कला इन दोनों से निस्संग रहती है और कला की यही अनासक्ति उसे स्वाधीन बनाए हुए है। अपनी इसी साधना के बल पर वह मनुष्य समाज की सीमाओं में बँध नहीं सकती।

× × ×

मगर कला का फल सदैव शिव है। कला यथार्थ का मौलिक चित्रण है। यथार्थ सत्य है और सत्य सदैव सुन्दर है। इसी लिए तो यह कहा जाता है कि कला "सौन्दर्य" की सृष्टि करती है। और सौन्दर्य ही तो इस विश्व का चरम सुख है। शिव वह है, जो सुन्दर हो और नित्य हो। इसी लिए कला सत्य भी है, सुन्दर भी है और शिव भी है। हम मनुष्यों को वह प्रभु की सर्वश्रेष्ठ देन है।

(विशाल-भारत, मार्च १९३३)

मेले का ऊंट

(बाबू बालमुकुन्द गुप्त)

भारतमित्र सम्पादक ! जीते रहो—दूध बताशे पीते रहो ! भंग भेजी सो अच्छी थी। फिर वैसी ही भेजना। गत सप्ताह अपना चिट्ठा आप के पत्र में टटोलते हुए "मोहनमेले" के लेख पर निगाह पड़ी। पढ़कर आप की दृष्टि पर अफ़सोस हुआ। पहली बार आप की बुद्धि पर अफ़सोस हुआ था। भाई ! आप की दृष्टि गिद्ध-की-सी होनी चाहिये, क्योंकि आप सम्पादक हैं। किन्तु आप की दृष्टि गिद्ध-की-सी होने पर भी उस भूखे गिद्ध-की-सी निकली जिस ने ऊँचे अकाश में चढ़े-चढ़े भूमि पर एक गेहूँ का दाना पड़ा देखा, पर उस के नीचे जो जाल बिछ रहा था वह उसे न सूझा। यहां तक कि उस गेहूँ के दानें को चुगने से पहले जाल में फँस गया।

मोहनमेले में आप का ध्यान दो एक पैसे की तरफ़ गया। न जाने आप घर से कुछ खाकर गये थे या यों ही। शहर की एक पैसे की पूरी के मेले में दो पैसे हों तो आश्चर्य न करना चाहिये, चार पैसे भी हो सकते थे। यह क्या देखने की बात थी ? तुम ने व्यर्थ बातें बहुत देखीं, काम की एक भी तो देखते ? दाईं ओर जाकर तुम ११०० सतरों का एक पोस्ट-कार्ड देख आये पर बाईं तरफ़, बैठा हुआ ऊँट भी तुम्हें दिखाई न दिया। बहुत लोग उस ऊँट की ओर देखते और हँसते थे। कुछ लोग कहते थे कि कलकत्ते में ऊँट नहीं होते इसी से मोहनमेले वालों ने इस विचित्र जानवर का दर्शन कराया

है। बहुत सी शौकीन बीबियाँ कितने ही फूल बाबू ऊँट का दर्शन करके खिलते दांत निकालते चले गये। तब कुछ मारवाड़ी बाबू भी आये, और झुक-झुककर उस काठ के घेरे में बैठे हुए ऊँट की तरफ देखने लगे। एक ने कहा—"ऊंटड़ो है"। दूसरा बोला—"ऊंटड़ो कठे ते आयो ?" ऊँट ने भी यह देख दोनों ओंठों को फड़काते हुए थूथनी फटकारी। भंग की तरंग में मैं ने सोचा कि ऊंट अवश्य ही मारवाड़ी बाबुओं से कुछ कहता है। जी में सोचा कि चलो देखें वह क्या कहता है ? क्या उस की भाषा मेरी समझ में न आवेगी? मारवाड़ियों की भाषा समझ लेता हूं तो मारवाड़ के ऊंट की बोली समझ में न आवेगी ? इतने में तरंग कुछ अधिक हुई। ऊंट की बोली साफ़ साफ़ समझ में आने लगी। ऊंट ने उन मारवाड़ी बाबुओं की ओर थूथनी करके कहा—"बेटा तुम बच्चे हो, तुम क्या जानोगे ? यदि मेरी उमर का कोई होता तो वह जनता। तुम्हारे बाप के बाप जानते थे कि मैं कौन हूँ, क्या हूं। तुम ने कलकत्ते के महलों में जन्म लिया। तुम पोतड़ों के अमीर हो! मेले में बहुत चीज़ें हैं। उन को देखो। और यदि तुम्हें कुछ फ़ुरसत हो तो सुनो, सुनाता हूँ। आज दिन तुम विलायती फ़िटिन टमटम और जोड़ियों पर चढ़कर निकलते हो, जिन की कतार तुम मेले के द्वार पर मीलों तक छोड़ आये हो, तुम उन्हीं पर चढ़कर मारवाड़ से कलकत्ते नहीं पहुँचे थे। यह सब तुम्हारे साथ की जन्मी हुई हैं। तुम्हारे बाप पचास साल के भी न होंगे इस से वह भी मुझे भली भांति नहीं पहचानते। हां, उन के भी बाप हों तो मुझे पहचानेंगे। मैं ने ही उन को पीठ पर लाद कर कलकत्ते तक पहुँचाया है।

आज से पचास साल पहले रेल कहां थी। मैं ने मारवाड़ से मिरज़ापुर तक और मिरज़ापुर से रानीगंज तक कितने ही फेरे किए हैं। महीनों तुम्हारे पिता के पिता तथा उन के पिताओं का घरबार मेरे ही पीठ पर रहता था। जिन जिन स्त्रियों ने तुम्हारे बाप के भी बाप को जना है वह सदा मेरी पीठ को ही पालकी समझती थीं। मारवाड़ में मैं सदा तुम्हारे द्वार हाज़िर रहता था, पर यहां वह मौका कहां ? इसी से इस मेले में तुम्हें देखकर आंखें शीतल करने आया हूं। तुम्हारी भक्ति घट जाने पर भी मेरा वात्सल्य नहीं घटता है। घटे कैसे, मेरा तुम्हारा जीवन एक ही रस्सी से बंधा हुआ था। मैं ही हल चलाकर तुम्हारे खेतों में अन्न उपजाता था और मैं ही चारा आदि पीठ पर लाद कर तुम्हारे घर पहुंचाता था। यहां कलकत्ते में जल की कलें हैं, गंगा जी हैं, जल पिलाने को ग्वाले कहार हैं पर तुम्हारी जन्म-भूमि में मेरी ही पीठ पर लद कर कोसों से जल आता था और तुम्हारी प्यास बुझाता था।

मेरी इस घायल पीठ को घृणा से न देखो। इस पर तुम्हारे बड़े, अन्न, रस्सियां यहां तक कि उपले लादकर दूर दूर तक ले जाते थे। जाते हुए मेरे साथ पैदल जाते थे और लौटते हुए मेरी पीठ पर चढ़े हुए हिचकोले खाते वह स्वर्गीय सुख लूटते थे कि तुम रबड़ के पहिये वाली चमड़े की कोमल गद्दियोंदार फ़िटिन में बैठकर भी वैसा आनन्द प्राप्त नहीं कर सकते। मेरी बलबलाहट उन के कानों को इतनी सुरीली लगती थी, कि तुम्हारे बग़ीचों में तुम्हारे गवैया तथा तुम्हारे पसन्द की बीबियों के स्वर भी तुम्हें उतने अच्छे न लगते होंगे। मेरे गले के घण्टों का शब्द उन को सब बाजों से प्यारा लगता था।

फोग के जंगल में मुझे चरते देखकर वह उतने ही प्रसन्न होते थे जितने तुम अपने सजे बगीचों में भंग पीकर पेट भरकर और ताश खेलकर।"

भंग की निन्दा सुनकर मैं चौंक पड़ा। मैंने ऊंट से कहा—बस बलबलाना बन्द करो। यह बावला शहर नहीं जो तुम्हें परमेश्वर समझे। तुम पुराने हो तो क्या, तुम्हारी कोई कल सीधी नहीं है। जो पेड़ों की छाल और पत्तों से शरीर ढाँकते थे, उन के बनाए कपड़ों से सारा संसार बाबू बना फिरता है, जिन के पिता सिर पर गठरी ढ़ोते थे, वही पहले दरजे के अमीर हैं, जिन के पिता स्टेशन से गठरी आप ढोकर लाते थे उन को सिर पर पगड़ी सम्हालना भारी है, जिन के पिता का कोई पूरा नाम न लेकर पुकारता था, वह बड़ी-बड़ी उपाधि-धारी हुए हैं। संसार का जब यही रंग है तो ऊंट पर चढ़ने वाले सदा ऊंट ही पर चढ़ें यह कुछ बात नहीं। किसी की पुरानी बात यों खोलकर कहने से आज कल के कानून से हतक-इज्ज़त हो जाती है। तुम्हें ख़बर नहीं कि अब मारवाड़ियों ने "ऐसोसीयेशन" बना ली है। अधिक बलबलाओगे तो वह रैज़ोल्यूशन पास करके तुम्हें मारवाड़ से निकलवा देंगे। अतः तुम इन का कुछ गुणगान करो जिस से वह तुम्हारे पुराने हक को समझें और जिस प्रकार लार्ड कर्जन ने किसी ज़माने के "ब्लैक होल" को उस पर लाठ बनवाकर और संगमरमर से मढ़वाकर शानदार बना दिया है उसी प्रकार मारवाड़ी तुम्हारे लिये मखमली काठी, जरी की गद्दियां, हीरे पन्नों की नकेल और सोने की घण्टियां बनवाकर तुम्हें बड़ा करेंगे और अपने बड़ों की सवारी का सम्मान करेंगे। —— [चिट्ठे और ख़त]

खुशामदी

(राय बहादुर श्रीयुत कालीप्रसन्न घोष सी० आई० ई०)

यदि मधुरभाषी होने के कारण भौंरे की संसार में प्रतिष्ठा हो सकती है और मीठी बोली बोलने के ही कारण कोयल, मैना, तोता, श्यामा और बुलबुल आदि पक्षी रसिकों, प्रेमियों, भावुकों और विलासियों की विलास कुवों अथवा प्यार के पीञ्जरों में जगह पा सकते हैं, तो फिर मधुरभाषियों में अग्रगण्य और धीरे-धीरे चलने वाले खुशामदियों पर ही दुनिया की ऐसी टेढ़ी निगाह और नफ़रत क्यों है ?

खुशामदी-लोग नीतिकारों से दलील करते हुए कह सकते हैं—"देखो, हम अपराधी किस बात के हैं ? तुम्हारे प्यारे भौंरे जिस तरह सदा शहद से भरे हुए फूलों के आस-पास गुन-गुनाते हुए मँडराया करते हैं, हम भी उसी तरह जहाँ कोई लम्बी चौड़ी आशा देखते हैं, वहाँ मस्त होकर गुन-गुनाया करते और गुण गाकर भौंरे की तरह मँड़राते फिरते हैं ? भौंरे को लाख हटाओ, पर वह फूल में मधु रहते वहाँ से नहीं हटता, बार-बार वहीं आ पहुँचता है । इसी तरह तुम चाहे हमें लाख बार फटकार बताओ या लात मारकर खदेड़ो, पर हम जिस शहद के भूखे हैं, वह जब तक तुम में रहेगा, तब तक मार, गाली, लात, जूते सब कुछ खाते हुए भी हम तुम्हारे पास आना न छोड़ेंगे । भ्रमर जैसे सिवाय मधु के फूल के और किसी गुण की ओर ध्यान नहीं देता, न देना चाहता,

उसी प्रकार हम भी जिस शहद के भूखे हैं, उस के सिवाय और कुछ नहीं देखते, हम तो केवल उसी पर रीझते हैं। शहद निकल जाने पर जैसे भौंरा उस फूल को छोड़ जाता है, वैसे ही हम भी शहद निकाल कर नौ दो ग्यारह हो जाते हैं—फिर हमारा कहाँ पता लगता है ? उस समय जिस तरह भौंरा नया फूल खोजने लगता है, उसी तरह हम भी नई जगह तालाश करते फिरते हैं। इस में भला कौन-सी बुराई है ?

"देखो, वसन्त में कोयल फूलों से भरे बग़ीचे में बैठी अपनी मीठी तानों से जवानों को मस्त और पाग़ल बना देती है। इस के लिये कौन उस की निन्दा करता है ? जिस का हृदय पहले पत्थर की तरह धीर और अचल था, उसे ही इस पाग़ल बना देने वाली अमृतभरी तान ने पतङ्ग की तरह अधीर बना दिया ; जो छल-कपट का नाम भी न जानता था, उसे छल करना सिखला दिया, लज्जावानों की लज्जा छुड़ा दी, मन में जो भाव कभी नहीं आ सकते थे, उन्हें ही भर दिया ; जहाँ शान्तिमयी सुख-निद्रा थी, वहाँ अशान्ति की छटपट लाकर फूलों की सेज पर काँटे बखेर दिये ; जहाँ तृप्ति थी, वहाँ अतृप्ति पैदाकर मनुष्य को व्याकुल कर दिया। लेकिन इतने अपराध करने वाली कोयल को कोई बुरा-भला कहने नहीं जाता। तुम ने अपने मन में बड़ी अटल प्रतिज्ञा कर रखी, कि प्राण भले ही चले जाँय, पर मैं प्रवृत्ति के कीचड़ में अपने मन को न फँसने दूँगा ; इतने में कहीं से कोयल पंचम सुर में कुहुक उठी और तुम्हें रह-रह कर उपदेश देने लगी कि देखो, ऐसी बुरी बात को कभी मन में स्थान न देना। तुम से जब अपने हृदय की ज्वाला न सही गयी और उसी जलन के मारे तुम्हारी आत्मा तड़पने लगी, तब तुम ने

प्रतिज्ञा कर डाली, कि इस जीवन में अब किसी कारण से मैं कामना की कंकरीली राह में पैर न दूँगा; पर इसी समय कोयल फिर पुकार उठी और अपने चिरपरिचित मोहन कण्ठ से 'कुहू कुहू' करके तुम्हें उपदेश देने लगी कि ऐसी कुबुद्धि को मन में उपजने देकर सब सुखों से हाथ क्यों धोते हो? देखो, कदापि इस विवेक की रूखी-सूखी और कठोर नीति को मन में जड़ न पकड़ने देना। जो तुम्हें लालसा की मधुर मदिरा पिला तुम्हें पाग़ल बनाती है, उसे तो तुम प्यार करते हो और हम लोगों से नफ़रत, यह कहाँ का न्याय है? भला यह तो बताओ, कि तुम्हारी प्रशंसा के पात्र कोयल और निन्दा के पात्र हम खुशामदियों में फ़र्क ही कौन-सा है? कोयल जिस तरह औरों से पाली जाती है, हम भी वैसे ही पराये अन्न से पलते हैं। हम दोनों ही परायी जूठन खाने वाले, खा-पीकर चल देने वाले मीठी बातों की रोटी खाने वाले, खुशामद के टट्टू और मीठी-मीठी बातें सुनाकर श्रोताओं के होश-हवास गुम कर देने वाले हैं। इस काम के हम लोग अगुए हैं। फिर हम खुशामदियों में कोयल की अपेक्षा कौन-सा दोष अधिक है। कोयल अगर वसन्त की सहचरी है, तो हम भी ऐश आराम के साथी हैं? जब वसन्त के बाद अन्धड़ तूफ़ान के दिन आते हैं, तब कोयल उड़ जाती है। उसी तरह जब ऐश आराम की घड़ियां बीत जातीं और विपत्ति की आँधी चलने लगती है, तब हम भी नौ दो ग्यारह हो जाते हैं। फिर इस प्रकार अन्याय रूप से हम दोनों में इतना फ़र्क क्यों समझा जाता है?

"और भी देखो, इस संसार की हाट में करोड़ों आदमी कांच के मोल काञ्चन बेंचकर अपने को कृतार्थ मान रहे हैं।

उन से कौन झगड़ा करने जाता है ? कहीं प्रेम के बदले बाज़ारू सुख, कहीं मित्रता के बदले कोरी शौकीनी, कहीं ज्ञान के बदले गर्व और कहीं मान के बदले केवल बन्दर-नाच मिलता है। इस प्रकार जब हम साफ़ देख रहे हैं, कि बेईमानी ही तिजारत का मूल मंत्र है, तब फिर हमीं क्यों नहीं इस का अवलम्बन कर अपना सौभाग्य सञ्चय करें। बनज व्योपार करने वाले बाज़ार का रुख़ देखने में ही लगे रहते हैं—यही उन की धर्म-नीति है। वे लोग लोगों की रुचि देखकर उन की पसन्द की चीज़ें जुटाया करते हैं और उन की प्रवृत्ति का रुख़ देखकर प्रलोभन की सामग्रिया इकट्ठी करने में ही मग़ज़ लड़ाया करते हैं। जब हम ने भी खुशामद का बाज़ार खोल रखा है और इसी नीति का अवलम्बन कर चल रहे हैं तब नीतिकार लोग हमारी इतनी निन्दा क्यों करते हैं ?"

खुशामदी बेचारे सब से इसी तरह की बातें भले ही न कहें, पर अपने दिल में तो वे ठीक यही सब बातें सोचा करते हैं। वे अपने मन में सोचते हैं कि जो स्वभावतः ही चंचल-चित्त है, उसे वंशी की टेर सुनाकर अथवा खेल-तमाशा दिखाकर वशीभूत कर रखने में अथवा जो जिस तरह की मदिरा के लिये लालायित हो रहा है, उसे वही मदिरा पिलाकर खुश कर देने में चाहे वह अच्छी हो या बुरी—अथवा मनुष्य का मन मोहने के लिये इसी तरह की और कोई कार्रवाई करने में बुराई ही कौन-सी है, जिस के लिये मनुष्य-जाति हम से अकारण ही नाराज़ हो जायगी। पर सूक्ष्मार्थ-दर्शिनी निर्मल बुद्धि इन सब मीठी-मीठी बातों में नहीं भूलती। जो लोग मनुष्यत्व की अस्वाभाविक विकृति और अधोगति देखकर

हृदय में गहरा दुःख अनुभव करते हैं, वे लोग उस विकृति और अधोगति को बढ़ाने वाले इन ख़ुशामदी टट्टुओं पर हृदय से घृणा किये बिना नहीं रह सकते ।

मानव-प्रकृति के मर्म जानने वाले मनस्वियों ने खुशामदियों की निन्दा की है और सभी देशों तथा सब समय के लोग, इन्हीं सब कारणों से ख़ुशामदियों को अत्यन्त क्षुद्र जीव समझकर उन्हें बड़ी घृणा के साथ याद करते आये हैं। ख़ुशामदी कुछ चोर-डाकू नहीं होते ; परन्तु इन का नाम लेते ही ऐसी घृणा उपजती है, जैसी शायद चोर-डाकू पर भी नहीं होती। कलाल भी दुनियाँ की उतनी बुराई नहीं करता, जितनी ये ख़ुशामदी ख़ुशामद और ठकुरसुहाती बातों की शराब पिलाकर करते हैं। पैर चाटने वाले कुत्ते जैसी नीचता की मूर्ति नहीं दिखलाते, ये लोग उस से भी बढ़कर नीचता खुले दिल से, बिना किसी तरह की हिचकिचाहट के दिखलाते हैं और सब के मन में घृणा उपजाते हैं। ये लोग Weather cock अर्थात् वात-कुक्कुट हैं। जिधर की हवा होती है, ये उधर ही अपनी पूँछ डुलाने लगते हैं । धनियों की ऊँची अटारियों पर नज़र डालने से जिस तरह के वात-कुक्कुट दिखाई देते हैं उन के अन्दर दूसरी तरह के वात-कुक्कुट जमे रहते हैं । इन दोनों में कौन-कौन-सी बात एक-दूसरे से मिल जाती हैं, वह एक बार परीक्षा करके देखना चाहिये। वे लोग दृष्टिदास हैं, इसी लिए जिधर उन के उपास्य देवता होते हैं उधर ही अपनी ख़ुशामद की बाग ढीली कर देते हैं । इन की देह, प्राण, मन सब कुछ बड़े और धनी लोगों के इशारे पर चलते हैं—चलते हैं क्या नाचते हैं। ये लोग धोखे के बने हुए पुतले हैं, माया के सूक्ष्म

तन्तुओं से रचे हुए छाया-पुरुष हैं। छाया की तरह इन का उठना बैठना, हाथ-पैर चलाना और सिर हिलाना सब कुछ दूसरों के इशारे पर होता है। सच पूछो तो ये अपनी उपमा आप ही हैं। भगवान् करे, इन की सर्वत्र प्रशंसित होने वाली करनी पर लोग फूल बरसायें।

[अनुवादक – पण्डित ईश्वरीप्रसाद शर्मा]

(गोलमाल)

———

वर्कर की मैं-मैं

(पं० पद्मसिंह शर्मा)

'अहंकार विमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते ।'

आशा है, 'प्रवासी' के उपर्युक्त अमूल्य उपदेश से, 'जो सच है,' लोग जान जाएँगे, तथा काम करने वाले कितने लोग हैं, इसे भी अच्छी तरह पहचान जाँएगे। एक तरह के लोग और भी हैं, उन्हें जान रखना भी बहुत ज़रूरी है। वे वह हैं, जो सिर्फ़ नाम के लिये ही काम करते हैं। किसी न किसी काम के बहाने अपने नाम को पब्लिक नोटिस में लाना ही जिन की कर्त्तव्य-परायणता का मुख्य उद्देश्य है, जिस काम में उन के इस उद्देश्य की सिद्धि नहीं होती—सब से पहले उन्हीं के श्रीनाम की पुकार नहीं मचती—फिर वह काम चाहे जैसा अच्छा क्यों न हो, उसे किसी काम का नहीं समझते, वह उन की दृष्टि में कोरा अकर्तव्य है। उन के नाम का 'पारस' जिस काम के साथ है, वह लोहा भी सोना है। उन की यशश्चन्द्रिका का संचार जहाँ पर है, वह स्याह अँधेरा भी सफ़ेद चाँदनी से बढ़कर है। संसार-भर के अच्छे कामों का 'क्रैडिट' वे अपनी ही पाकेट में डालना चाहते हैं। कोई काम कहीं से भी हो, वह सब उन का किया हुआ, या कम-से-कम कराया हुआ माना जाना चाहिये। इसी में सब की खैर है। काम के बदले उन की प्रत्येक से पब्लिक अपील यही होती है—

"दान करें सब लोग सुयश-मधु भूखा हूँ मैं"।

वे पद-पद पर श्रीकृष्ण के विभूति योग के इस कथन का अपने में समन्वय करते रहते हैं—

"यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम॥"

वे आँख मींच कर कुछ-न-कुछ बिना कामा-फुलस्टाप दिये फुर्ती से किये जाने को ही "वर्कर" होने का ज़रूरी चिह्न समझते हैं। यह 'वर्कर" कहलाने की लै जब हद से बढ़ जाती है, तब बुरे-भले की सब तमीज़ उठा दी जाती है। फिर 'यत्किंचनकारिता' की दशा में जो कुछ किया जाए, वह 'सब ठीक है, ऐसा ही होता है', समझ लिया जाता है। बिल्कुल यही दशा होती है—

"यथा हि पंचमी धारामस्थाय तुरगः पथि।
स्थाणुं श्वभ्रं दरीं चैव वेगान्धो न समीक्षते॥
एवं वर्करलोकैस्तु धावद्भिः कार्यभूमिषु।
निन्दाऽधर्मः कीर्तिनाशो न किंचन समीक्षते॥"

तब घोर उच्छृंखलता-जन्य लोकापवाद भी यह कहकर कि—'यह तो काम करने वालों के लिये भूषण है। काम करने वालों पर लांछन लगा ही करते हैं', सादर ग्रहण कर लिया जाता है। जब नौबत यहाँ तक पहुँच जाती है, तो फिर खुले बन्दों खुल खेलते हैं। इस हालत में इन 'वर्कर' धौरेयों से यह आशा रखना कि 'किसी के कहने-सुनने से ये सोच समझकर चलेंगे', दुराशामात्र है। नाम के नोटिस की ख़्वाहिश—'वर्कर' कहलाने की प्रबल लालसा—उन्हें यह सुनने का मौका नहीं देती कि—'अफ़-आले-मुज़िर से कुछ न करना अच्छा। काम मुज़िर हो, या मुफ़ीद, उन्हें तो नाम से काम। उन का तो 'मोटो'

ही यह बन जाता है—

"हम तालिबे-शोहरत हैं, हमें नंग से क्या काम।
बदनाम भी गर होंगे, तो क्या नाम न होगा॥"

ऐसे 'वर्कर' महाशयों की चाहे जैसी दुर्गति हो, पर किसी तरह नाम ज़रूर निकल जाय, लोग यह ज़रूर समझ जायँ कि यह भी 'पाँचों सवारों' में हैं—किसी गिनती में हैं। ऐसे लोगों की शान में प्रतिभाशाली 'अक़बर' कवि ने क्या ही ख़ूब कहा है—

"आनर अगर मिले जो है नामो-नमूद में,
क्या हर्ज़ ज़िन्दगी हो अगर हाले-ज़िश्त में।
दोज़ख़ के दाख़ले में नहीं उन को उज़्र कुछ,
फोटो कोई लगा दे जो उन का बहिश्त में।"

ऐसे 'वर्कर' वस्तुस्थिति का पलक मारते बदल देना अपने बाएँ हाथ के इशारे का काम समझने लगते हैं। सिर में यह समा जाती है कि जब चाहें, हम अपनी घोषणा द्वारा दिन को रात, पाप को पुण्य, न-कुछ को सब-कुछ फ़ौरन से पहले बनाकर, पब्लिक को विश्वास दिला सकते हैं। ईश्वर चाहे इस प्रकार अनायास 'वस्तुस्थिति' न बदल सके, पर वे ज़रूर बदल सकते हैं।

आस्तिक पुरुषों का विश्वास है कि संसार-चक्र को घुमाने वाला एक ईश्वर ही है, पर ये 'वर्कर' महाशय समझते हैं कि नहीं; हम 'ही' न सही, पर हम 'भी' ज़रूर हैं। यह श्लोक मानो इन्हीं के लिये कहा गया है—

"स्वचित्तकल्पितो गर्वः कथमस्य (वर्करस्य) न जायताम्।
उत्क्षिप्य टिट्टिभी पादावास्ते भंगभयाद्दिवः॥"

"मैं करता हूँ, मैं ने किया, मैं ही करूँगा, यह सब ज़रूर मेरा ही है"—यह सब 'वर्कर-सम्प्रदाय' का जपमन्त्र बन जाता है, और इस का जो परिणाम होता है, वह महात्मा परमहंस रामकृष्ण ने अपने इस अमूल्य उपदेश में अच्छी तरह बतला दिया है—

"अहंकार की बड़ी दुर्दशा होती है ! बछड़ा और मेमना (वर्कर=बकरी का बच्चा) 'हम-हम' और 'मैं-मैं' करते हैं । इस से उसे अनेक तरह की दुर्गति सहनी पड़ती है । माँ का दूध वह नहीं पी पाता, उस से गाय को (और बकरी को) चटवा कर दूसरे दूध दुह लेते हैं । जब बड़ा होता है, तब हल खींचता है, या कसाइयों के हाथ पड़ता है । मोची उस के चमड़े से जूते बनाते हैं, वे पैरों के नीचे रहते हैं । इस पर भी उस की दुर्गति का अन्त नहीं होता । उस की आँत से जब ताँत बनती है, और जब ताँत पर मुँगड़ा मारकर धुनियाँ रुई धुनता है, तब वह 'तैं-तैं' करता है, तब कहीं उस की दुर्गति का अन्त होता । मनुष्य के 'मैं' और 'मेरा' इसी ज्ञान के कारण जितनी कुछ दुर्गति है। अहंबुद्धि के चले जाते ही सब जंजाल दूर हो जाता है।"

इस से यही निष्कर्ष निकलता है कि 'वर्कर' लोग अपनी 'मैं–मैं' अहंकार-भाव, कीर्तिलिप्सा, नाम की धूम, वस्तुस्थिति को कथनमात्र से बदल देने की सनक इत्यादि-इत्यादि दुर्भावों को छोड़कर कार्य क्षेत्र में प्रवृत्त हुआ करें, तो लोक का उपकार हो, कुछ वास्तविक कार्य हो, फिर उन का आप ही नाम हो। मतलब यह है कि 'नाम-कामना' आनुषांगिक फल हो, और कार्य करना मुख्य हो ।

(विशाल-भारत, नवम्बर १९३२)

———

न्याय

(महात्मा गांधी)

ईसवी सन् की कई शताब्दियों के पहले एक व्यापारी हो गया है। उस का नाम सोलोमन था। वह बहुत ही प्रसिद्ध मनुष्य था। उस ने धन भी बहुत कमाया था। उस की कहावतें आज भी युरोप में प्रचलित हैं। वेनिस के लोग उस को बहुत ज़्यादा चाहते थे। इस लिये उन्हों ने वेनिस में उस की एक पाषाणमूर्ति बनवाई है। वर्तमान में उस की कहावतें प्रायः लोग रट रखते हैं; परन्तु उन के अनुसार चलने वाले तो बहुत ही कम हैं। वह कहता है कि—

"जो झूठ बोल कर पैसा कमाते हैं, वे मग़रूर हैं। यही कमाई उन की मौत की निशानी है।"

"हरामखोरी की दौलत कुछ फ़ायदा नहीं पहुँचाती। सत्य मौत से बचाता है।"

इन दोनों कहावतों में सोलोमन ने बताया है कि, अन्याय से प्राप्त की हुई दौलत का परिणाम मौत है। इस ज़माने में झूठ या अन्याय इतनी उत्तमता के साथ बोला और किया जाता है कि, साधारणरीत्या हम उसे झूठ या अन्याय नहीं कह सकते। जैसे—झूठे विज्ञापन देना और वस्तुओं पर इस तरह के नाम लगाना जिन से लोग भुलावे में पड़ जाँय। आदि।

वह बुद्धिमान मनुष्य और भी कहता है कि—"जो धन बढ़ाने के लिये ग़रीबों को सताते हैं वे अन्त में भीख-माँगते हो जाते हैं।"

"ग़रीबों को सताना नहीं चाहिये। क्योंकि वे ग़रीब हैं। व्यापार में पीडित लोगों पर ज़ुलम न करो। क्योंकि जो ग़रीब को सतायेंगे उन्हें परमेश्वर-खुदा सताएगा।"

तो भी वर्तमान में तो गिरे के ही ठोकर दी जाती है। जो मनुष्य सकड़ाई में—विपत्ति में होता है उसी से हम लाभ उठाने के लिये तैयार होते हैं। धाड़ेती धनवानों के यहाँ धाड़ा डालते हैं, मगर व्यापार में तो ग़रीब ही लूटे जाते हैं।

सोलोमन कहता है—"धनी और निर्धन दोनों समान हैं। परमात्मा उन का पैदा करने वाला है। वही उन को ज्ञान भी देता है।" धनी का निर्धन बिना और निर्धन का धनी बिना काम नहीं चलता। एक को दूसरे की ज़रूरत हमेशा ही रहती है। इस लिये कोई किसी को ऊँचा या नीचा नहीं बता सकता है। मगर जब लोग यह भूल जाते हैं कि, हम दोनों समान हैं और परमात्मा हम को ज्ञान देने वाला और पैदा करने वाला है तब परिणाम विपरीत होता है।

द्रव्य नदी के समान है। नदी हमेशा समुद्र की तरफ़ यानी नीचे की ओर जाती है। ऐसा ही नियम धन के लिये भी है। धन भी वहीं जाना चाहिये जहां उस की आवश्यकता हो। मगर जैसे नदी की गति में परिवर्तन हो सकता है, वैसे ही द्रव्य की गति में भी परिवर्तन हो सकता है। कई नदियाँ इधर उधर बहती है। उन के आस-पास बहुत सा पानी होने से ज़हरीली वनस्पति और ज़हरीली हवा उत्पन्न होती है वे ही नदियाँ यदि बाँध दी जाती हैं और उन का पानी जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ ले जाया जाता है तो, वही पानी ज़मीन को रसाल बनाता है और आस-पास की हवा को स्वच्छ कर देता

है। इसी तरह द्रव्य का यदि असदुपयोग होता है तो उस से मनुष्यों में दुष्टता बढ़ती है; भूख-मरा फ़ाका-कशी बढ़ती है, संक्षेप में कहें तो यह है कि, वह धन ज़हर का कार्य करता है। मगर उसी द्रव्य की यदि गति बाँध दी जाय; उस का सदुपयोग किया जाय तो वह बँधी हुई नदी की तरह सुखकर्ता हो।

अर्थशास्त्री नदी की गति रोकने के नियम को सर्वथा भूल जाते हैं। उन का शास्त्र केवल द्रव्य एकत्रित करने का शास्त्र है। मगर द्रव्य तो अनेक प्रकार से प्राप्त किया जाता है। एक समय ऐसा भी था कि, जब लोग युरोप में धनवान् को ज़हर देकर मार डालते थे और उस का धन लेकर आप धनी बन बैठते थे। वर्तमान काल में ग़रीब लोगों के लिये जो खुराक तैयार की जाती है, उस में व्यापारी लोग अन्यान्य चीज़ें मिला देते हैं। जैसे—दूध में टंकणक्षार, आटे में आलू, काफ़ी में चीकरी और मक्खन में चर्बी आदि शामिल कर देते हैं। यह भी ज़हर देकर धनी बनना ही है। इस को क्या हम धनी बनने की कला या शास्त्र कह सकते हैं ?

यह नहीं समझ लेना चाहिये कि, अर्थशास्त्री सर्वथा लूटकर ही धन एकत्रित करने की बात कहते हैं। उन को कहना चाहिये या उन का कथन है कि—"उन का शास्त्र कायदे से न्याय-पुरस्सर धनी बनना है।" मगर इस काल में प्रायः ऐसा बनता है कि, एक वस्तु कायदे के माफ़िक़ तो होती है; परन्तु न्याय-बुद्धि के विपरीत होती है। इस लिये वास्तविक मार्ग यही है कि न्याय पुरस्सर द्रव्य उपार्जन करना और न्याय ही से धन एकत्रित करना। यह मार्ग यदि सच्चा हो तो मनुष्य का सब से पहिला कार्य्य न्याय-बुद्धि सीखना है। केवल

लेन-देन के कायदे से कार्य करना या व्यापार करना सीखना ही नहीं। मछलियाँ, चूहे, चीते आदि इसी तरह रहते हैं। बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हैं। चूहे, छोटे छोटे जन्तुओं को खाते हैं और चीते आदमियों तक को खा जाते हैं। उन का यही कायदा है। उन को दूसरा कुछ भी ज्ञान नहीं हैं। मगर मनुष्य को परमात्मा ने बुद्धि दी है—न्याय-बुद्धि दी है। इस लिये मनुष्य को चाहिये कि, दूसरों को खाकर—दूसरों को धोखा देकर—दूसरों को भिखारी बनाकर वह स्वयं धनवान् न बने।

तब हमें अब यह देखना है कि, मज़दूरों को मज़दूरी देने का न्याय क्या है ?

ऊपर यह कहा जा चुका है कि, मज़दूर ने जितनी मज़-दूरी आज हमारे लिये की है उतनी ही मज़दूरी अवश्य हम उसे दें। यदि उसे हम कम मज़दूरी देंगे तो कम और विशेष मज़दूरी देंगे तो विशेष बदला—प्रत्युपकार समझा जायगा।

एक मनुष्य को मज़दूर की ज़रूरत है। उस को दो आदमी अपनी मज़दूरी देना कहते हैं इन में से जो कम मज़दूरी लेता है उसी को काम दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि, उस को परिश्रम के परिमाण से मज़दूरी कम मिलती है। इसी तरह दो आदमी मज़दूर चाहते हैं। मगर मज़दूर एक ही है। वह उसी के यहाँ रहता है जो उस को ज़्यादा मज़दूरी देता है। इस का परिणाम यह होता है कि उसे परिश्रम के परिमाण से अधिक मज़दूरी मिलती है। अतः इन दोनों मज़दूरियों के बीच बीच की जो रकम होगी वही वास्तविक परिश्रम-फल—मज़दूरी समझी जायगी।

मैं किसी मनुष्य से रुपये उधार लेता हूँ। अमुक मुद्दत

के बाद वापिस देने की शर्त करता हूँ। मुद्दत पूरी होने पर मूल-धन के साथ व्याज भी देता हूँ। इसी तरह यदि मैं किसी मनुष्य से मज़दूरी कराऊँ तो उस को मुझे उतनी ही मज़दूरी देनी चाहिए। व्याज के तौर पर कुछ अधिक भी देना चाहिए। आज मेरे लिये यदि कोई एक घण्टे तक कार्य करे तो मुझे, उसे एक घंटा और पाँच मिनट या इस से कुछ अधिक समय तक काम करने का वचन देना चाहिए। इसी भाँति प्रत्येक मज़दूर के लिए भी समझना चाहिए।

मेरे पास दो मज़दूर आये। उन में से मैं ने उस को रक्खा जो कम मज़दूरी मांगता था। परिणाम क्या हुआ ? वह आधे पेट रह कर मेरा कार्य करने लगा। दूसरा सर्वथा काम बिना ही रहा। मगर यदि मैं, जिस को रक्खा है, उस को पूरी मज़दूरी दूँ तो वह पेट भरकर खाय और यह माना जाय कि, मैं ने धन का सदुपयोग किया है। दूसरा तो दोनों हालतों में बग़ैर काम रहता ही है। जब दैनिक मज़दूरी कम दी जाती है तभी फ़ाक़ा-काशी शुरू होती है। यदि मैं मज़दूरों को वाजिब मज़दूरी दूँ तो मेरे पास निकम्मी पड़ी रहने के लिए दौलत जमा न हो, मैं ऐयाशी में पैसा न खरचूँ और मेरे घर ग़रीबी भी न आवे। जिस को मैं वाजिब मूल्य दूँगा वह दूसरों को भी वाजिब देना सीखेगा। इस तरह, न्याय की धारा सूखने के बदले जैसे जैसे आगे बढ़ती जायगी वैसे ही वैसे विशेष वेगवती बनती जायगी। जिस प्रजा में इस तरह की न्याय-बुद्धि होगी वह प्रजा सुखी होगी और उचित रूप से फलेगी फूलेगी।

इस विचारसरणि से—पद्धति से अर्थ-शास्त्री झूठे पड़ते हैं। वे तो कहते हैं कि, जैसे जैसे प्रतिस्पर्द्धा बढ़ती जाती है, वैसे

वैसे ही प्रजा भी विशेष रूप से सुख-समृद्धिवान बनती जाती है। मगर वास्तव में यह बात भ्रमपूर्ण है। स्पर्द्धा का अभिप्राय मज़दूरी की दर घटाना है। इस से धनी विशेष धनवान बनता है और ग़रीब विशेष ग़रीब होता है। ऐसी स्पर्द्धा के परिणाम में आख़िरकार प्रजा के नष्ट होने की सम्भावना है। लेन-देन का कायदा तो यह होना चाहिए कि प्रत्येक मनुष्य को उस की योग्यता के अनुसार मूल्य मिला करे। स्पर्द्धा इस में भी होगी। मगर उस का परिणाम अच्छा होगा। लोग सुखी और होशियार बनेंगे। क्योंकि उस समय काम मिलने के लिये अपनी मज़दूरी की दर नहीं घटानी पड़ेगी, बल्कि, काम प्राप्त करने के लिये विशेष होशियार बनना पड़ेगा। लोग सरकारी नौकरी प्राप्त करने की क्यों कोशिश करते हैं? केवल इस लिये कि, वहाँ वेतन बँधा रहता है। सरकारी नौकरी प्राप्त करने के लिये मनुष्य को अर्ज़ी में कम वेतन लेने की बात नहीं लिखनी पड़ती। वहाँ उसे यह लिखना पड़ता है, यह बताना पड़ता है कि, उस में दूसरों की अपेक्षा विशेष होशियारी है। वहाँ स्पर्द्धा केवल होशियारी ही की होती है। नौका-सैन्य में और दूसरी फ़ौजों में यही नियम पाला जाता है। इसी से इन महकमों में प्रायः अनीति और गड़बड़ी दृष्टिगत नहीं होती। केवल व्यापार में ही मिथ्या स्पर्द्धा होती है। उसी का परिणाम है कि, आज दग़ा, लुचपन, चोरी आदि की अनीति बढ़ गई है। जो माल तैयार होता है वह ख़राब और सड़ा हुआ होता है। व्यापारी समझता है कि, मैं खा जाऊं, मज़दूर जानता है कि मैं धोखा दूँ और ग्राहक समझता है कि मैं बीच ही में कुछ कमा लूँ। इस प्रकार व्यवहार बिगड़ता है और मनुष्यों में झगड़ा खड़ा होता है, फ़ाका-कशी बढ़ती है;

हड़तालें होने लगती है ; व्यापारी लफ़ंगे बनते हैं और ग्राहक अनीति सीखते हैं। एक अन्याय में से दूसरे अनेक अन्याय उत्पन्न होते हैं और अन्त में अढ़तिये और ग्राहक सभी दुखी होते हैं—बरबाद होते हैं। जिस प्रजा में ऐसा रिवाज चलता रहता है वह प्रजा अन्त में हैरान होती है ; प्रजा का पैसा ज़हर के समान हो जाता है। इस लिये ज्ञानियों ने कहा है कि, "जहाँ पैसा परमेश्वर है ; वहाँ कोई परमेश्वर को बराबर नहीं पूजता है। द्रव्य और परमात्मा के आपस में अनबन है। परमात्मा ग़रीब ही के घर में बसता है।

[अनुवादक—कृष्णलाल वर्मा]
(सर्वोदय)

———

दारिद्र्य-व्रत

(शिवनारायण द्विवेदी)

संसार की प्रत्येक जाति दरिद्रता का आदर कर के ऊपर चढ़ती है और दरिद्रता के निरादर से नीचे गिर जाती है। निरन्तर बीस पीढ़ियों की पराधीनता भोगकर इटली ने अपनी भूल समझी ; उसी समय मेज़नी, गैरीबालडी आदि ऋषियों ने दारिद्र्य-व्रत ग्रहण किया और अपनी भोग-वासनाओं को जलाञ्जलि देकर स्वदेश के उद्धार में अपने आप को उत्सर्ग कर दिया। वेष बदल-कर, छिपकर, भूखे-प्यासे, स्थान-स्थान पर घूमकर इस सन्यासी-दल ने स्वदेश के उद्धार की सामग्री एकत्र की। माता के आंसू, प्रियतमा के दीन वाक्य, छोटे सुकुमार बालकों का क्रन्दन भी उन्हें स्वदेशोद्धार के व्रत से विचलित न कर सका। जो दूध के समान श्वेत शैया पर सोते थे, स्वर्ण-जटित कामदार वस्त्र पहनते थे, विलासिता की गोद में पले थे, जो स्वदेशव्रती संन्यासियों को "पाग़ल, दरिद्र, विकृत, रोगी" कहते थे, उन के द्वारा इटली का उद्धार नहीं हुआ। जिन्हों ने धन के लोभ से विदेशी गवर्न-मेण्ट को मन और आत्मा तक बेच डाली थी, जो अपने मालिक को प्रसन्न करने के लिये विश्वासघात करने से भी न हिचकते थे, जो शरणापन्न स्वदेशवासियों के रक्त से अपने मालिकों के चरण धोने को भी तय्यार रहते थे, उन जाति-कलङ्क कुलाङ्गारों से इटली का अहित के सिवाय कभी हित नहीं हुआ। प्रत्युत, उन के द्वारा इटली का सौभाग्य-समय और दूर फेंका गया—उन के

कारण इटली और अधिक समय तक पराधीन बनी रही। किन्तु जिन्हों ने दारिद्र्य-व्रत धारण किया था—उन के निरन्तर खून-पसीना एक करते रहने पर, इटली की अभावनीय स्वाधीनता फिरी। उन संन्यासियों का सपना सच्चा निकला।

वीर गैरीबाल्डी ने इटली के स्वयं-सेवक दल का स्वामी बनकर, मूँठी भर जातीय युवकों से, प्रबल आस्ट्रिया राज्य को समर-क्षेत्र में दारिद्र्य-मंत्र की सिद्धि का फल प्रत्यक्ष दिखा दिया। यदि गैरीबाल्डी चाहता तो वह नैपोलियन की तरह इटली का साम्राट् बन जाता, किन्तु वह विक्टर एमेनुएल को राज्य देकर फिर अपने खेतों के काम में लग गया। जो सम्राट् बन सकता था, उस ने अत्यधिक आग्रह करने पर भी जातीय-कोष से पैन्शन लेना स्वीकार न किया। दारिद्र्य-व्रत ही त्याग-मंत्र है। पाताल में पड़ी हुई जाति को यही स्वर्ग में चढ़ा सकता है। इस के समान और किसी मंत्र में प्रभाव है या नहीं, सो सन्दिग्ध है।

जिस दिन भारत उन्नत था, उस दिन यह भी त्यागी था—उस दिन यह भी दारिद्र्य-व्रती था। तब हाज़रों पारलौकिक त्यागियों के चरित्र से भारत जग-मगा रहा था, उन के आत्म-त्याग की मोहिनी शक्ति से राजा भी अपने स्वार्थ को जातीय स्वार्थ की वेदी पर चढ़ा देते थे। ब्राह्मण-जाति उस समय त्याग-शिखा थी। किसानों के खेतों से अनाज काट कर ले जाने पर मार्ग में जो अन्न गिर पड़ता था, उसे ही बीन कर ये लोग अपना उदर भरते थे। इसे 'उञ्छवृत्ति' कहते थे। यदि भोजन करते समय कोई अतिथि आता, तो स्वयं न खाकर उस की तृप्ति करने में ही यह आनन्द मानते थे। यह सर्वोच्च दारिद्र्य-व्रत ही भारत को उन्नत बनाए था। जँगल में स्वाधीन भाव से पैदा हुए फल

मूल और शाक ही पर उन का निर्वाह होता था । उन का प्रेम मनुष्य ही नहीं, किन्तु प्राणीमात्र पर समान था । सिंह और व्याघ्र जैसे जन्तु भी प्रेम से मोहित होकर समय-समय पर निर्वैर दीखते थे । उन के विश्व-प्रेम की मोहिनी उन पर भी जादू-का-सा असर करती थी। यह कोरी कथा या कवि-कल्पना नहीं, किन्तु सच्चा इतिहास है । चरित्र-बल और आत्म-त्याग की मोहिनी शक्ति से संसार वश किया जा सकता है । जो योगी इस साधना में सिद्ध है, उस के लिए असाध्य कुछ भी नहीं है। आत्मोत्सर्ग ही नेतृत्व का प्रधान लक्षण है । जो जितना ही अधिक स्वार्थ-त्याग कर सकता है, वह उतना ही बड़ा नेता बन सकता है ।

वसिष्ठ ऋषि ने अपने आश्रम से महाराज रामचन्द्र को कहला भेजा था—"महाराज, आप सिंहासन पर बैठे हैं । मैं आप को एक उपदेश देता हूँ । जो आप उस के अनुसार चलें तो आदर्श राजा होंगे । आप कभी प्रजा की इच्छा के विरुद्ध आचरण न करें ।" महर्षि के इस गम्भीर उपदेश को राम ने भक्ति पुरस्सर शिरोधार्य किया और प्रतिज्ञा की कि,—"ऋषि के इस आज्ञापालन में यदि मुझे प्राणोपमा सीता का भी त्याग करना पड़े तब भी उस से विमुख न होऊँगा।" थोड़े ही दिन पीछे एक दूत ने आकर समाचार दिया—"रावण के घर में रहने के कारण लोग सीता के चरित्र पर संदेह करते हैं; उन्हें लङ्का की अग्नि-परीक्षा पर विश्वास नहीं।" यह समाचार सुनकर राम पहले तो वज्राहत वृक्ष की तरह सिर पकड़कर बैठ गए । किन्तु शीघ्र ही उस राज-सन्यासी ने अपने कर्त्तव्य का ध्यान करते हुए प्राकृत बल धारण किया । उसे याद आया कि, उस ने ऋषि से यह

प्रतिज्ञा की है कि, प्रजारञ्जन में यदि उसे प्राणोपमा प्रिया सीता का भी त्याग करना पड़े, तो वह यह भी करेगा । उस प्रतिज्ञा और त्यागी ऋषि की आज्ञा का किसी प्रकार उल्लङ्घन नहीं किया जा सकता । यदि इस असह्य वेदना से हृदय फटे तो फट जाओ, किन्तु त्यागी राम की प्रतिज्ञा विचलित न होगी । कर्त्तव्य स्थिर हो गया । लक्ष्मण को बुलाकर आदेश दिया—"पूर्ण-गर्भा सीता को गंगा के किनारे त्यागकर आओ ।" मनीषी के दृढ़ तीव्र आदेश को उल्लङ्घन करने की शक्ति लक्ष्मण में न थी । वह भीम भयानक आदेश उसी समय किया गया । ऋषि की आज्ञा पूरी हुई । उपदेशक और उपदिष्ट की महिमा दसों दिशाओं में व्याप्त हो गई । ऐसा उपदेश और प्रजा के स्वार्थ के लिए राजस्वार्थ की ऐसी बलि संसार के इतिहास में खोजने पर भी कहीं नहीं मिलती ।

त्याग-मंत्र की महिमा समझ कर विश्वामित्र ने राज-सिंहासन छोड़ दिया था । ऐश्वर्य और हाथी-घोड़ों को छोड़-कर वे संन्यासी बने थे । उन्हों ने देखा कि जो नेता बनना चाहे, जो दूसरों को उपदेश देना चाहे, उसे सब से पहले अपने स्वार्थ की बलि देनी चाहिए—अपने ऐश्वर्य को दूसरों के हित में लगा कर उसे दारिद्य-मंत्र सिद्ध करना चाहिए । इस लिए अपना राज्य और राज-सिंहासन त्याग कर विश्वामित्र संन्यासी बने । उन के दारिद्य-मंत्र सिद्ध करते समय विश्व काँप उठा था । संसार में न मालूम कितने राजा होकर मर गये । संसार उन्हें नहीं जानता, यदि विश्वामित्र भी राजा ही रहते तो उन्हें कौन पहचानता ? किन्तु राजर्षि विश्वामित्र को संसार जानता है—भक्ति सहित सिर झुकाता है ।

जिस दिन त्याग-मंत्र सिद्ध था, उस दिन भारत भी उन्नत था—जिस दिन दरिद्रता से घृणा न थी तब भारत भी संसार का नेता था। किन्तु जब से इसे घृणा हुई, तभी से भारत गिरने लगा है। हे भारत-संतान! उस उन्नत दिन को लाने के लिए फिर उसी त्याग-मंत्र को सिद्ध कर—फिर उसी दारिद्र्य-व्रत का पालन कर। संसार की कोई शक्ति इस व्रत के पालने वालों के सामने नहीं टिक सकती। धन-बल, ऐश्वर्य-बल, जन-बल आदि कोई भी बल हो, किन्तु त्याग-बल के सामने सब को सिर झुकाना पड़ता हैं। संसार का इतिहास त्याग की कथामात्र है। जिस ने त्याग स्वीकार किया, वह उन्नत बना है और जो अत्यागी बना उस ने सर्वस्व खोया है। त्याग स्वाधीनता और अत्याग घोर पराधीनता है। दरिद्र्य-व्रत पालने वाले बिना वेष के मनस्वी संन्यासी ही देश का उपकार करते हैं। वे गेरुआ कपड़ा नहीं पहनते और झोली भी नहीं लटकाते, किन्तु उन का हृदय दरिद्रों के दुःख से निरन्तर रोता रहता है—वे भगीरथ-प्रयत्न कर के उन के दुःख दूर करते हैं। जिस देश में ऐसे बिना वेष वाले सन्यासियों की संख्या बढ़ जाती है, वही देश सब का नेता बन जाता है—वही स्वाधीनता का केन्द्र बन जाता है।

(आत्मोत्सर्ग)

———

लोभ

(महावीरप्रसाद द्विवेदी)

लोभ बहुत बुरा है। वह मनुष्य का जीवन दुःखमय कर देता है; क्योंकि अधिक धनी होने से कोई सुखी नहीं होता। धन देने से सुख नहीं मोल मिलता। इस लिए जो मनुष्य सोने और चाँदी के ढेर ही को सब कुछ समझता है, वह मूर्ख है। मूर्ख नहीं तो वह वृथा अहङ्कारी अवश्य है। जो बहुत धनवान् है, वह यदि बहुत बुद्धिमान् और बहुत योग्य भी होता तो हम धन ही को सब कुछ समझते, परन्तु ऐसा नहीं है। धनी मनुष्य सब से अधिक बुद्धिमान् नहीं होते। इस लिये धन को विशेष आदर की दृष्टि से देखना भूल है, क्योंकि उस से सच्चा सुख नहीं मिलता। इस देश के पहुँचे हुए विद्वानों ने धन को सदा तुच्छ माना है। यह बात आज-कल के समय के अनुकूल नहीं। योरप और अमेरिका के ज्ञानी धन ही को बल—बल नहीं, सर्वस्व—समझते हैं। परन्तु जिस धन के कारण अनेक अनर्थ होते हैं, उस धन को प्रधानता कैसे दी जा सकती है? और देशों में उसे भले ही प्रधानता दी जाय, परन्तु भारतवर्ष में उसे प्रधानता मिलना कठिन है। जिस देश के निवासी संसार ही को माया-मय, अत एव दुःख का मूल कारण समझते हैं, वे धन को कदापि सुख का हेतु नहीं मान सकते।

बहुत धनवान् होना व्यर्थ है। उस से कोई लाभ नहीं। क्योंकि साधारण रीति पर खाने-पीने और पहनने आदि के

लिये जो धन काम आता है, वही सफल है। उस से अधिक धन होने से कोई काम नहीं निकलता। स्वभाव अथवा प्रकृति के अनुसार खाने ही पीने की आवश्यकताओं को दूर करने के लिये धन की चाह होती है। दूसरों को दिखलाने अथवा उसे स्वयं देखने के लिये धन इकट्ठा करने से कोई लाभ नहीं। कोई जगत्-सेठ ही क्यों न हो, यदि वह सितार या वीणा बजाना सीखना चाहेगा, तो उसे उस विद्या को उसी तरह सीखना पड़ेगा जिस तरह एक निर्धन-महाकङ्गाल को सीखना पड़ता है। उस गुण को प्राप्त करने में उस की धनाढ्यता ज़रा भी काम न देगी। वह उसे मोल नहीं ले सकता। जब उसे धन के बल से वीणा बजाने के समान एक साधारण गुण भी नहीं मिल सकता, तब शान्ति, शुद्धता और धीरता आदि पवित्र गुण क्या कभी उसे मिल सकते हैं? कभी नहीं।

जिस के पास आवश्यकता से थोड़ा भी अधिक धन हो जाता है, वह अपने-आप को, अर्थात् यों कहिये कि अपनी आत्मा को, अपने वश में नहीं रख सकता। क्योंकि सन्तोष न होने के कारण वह उस धन को प्रति-दिन बढ़ाने का यत्न करता है। अतएव वह धन किस काम का जो लोभ को बढ़ाता जाय? भूख लगने पर भोजन कर लेने से तृप्ति हो जाती है। प्यास लगने पर पानी पी लेने से तृप्ति हो जाती है। परन्तु धन से तृप्ति नहीं होती। उसे पाकर और भी लोभ बढ़ता है। इसी लिये धनी होना एक प्रकार का रोग है। रात को जाड़े से बचने के लिये एक लिहाफ़ बस होता है। यदि किसी के ऊपर आठ दस लिहाफ़ डाल दिए जाएँ तो उसे बोझ मालूम होने लगेगा और उल्टा कष्ट होगा। परन्तु धन की वृद्धि से कष्ट नहीं मालूम

होता। इसी लिए धनाढ्यता भी एक प्रकार की बीमारी है। जिसे भस्मक रोग हो जाता है, वह खाता ही चला जाता है। उसे कभी तृप्ति नहीं होती। जिसे धनाढ्यता रोग हो जाता है, वह भी कभी तृप्त नहीं होता। तृप्ति का न होना, अर्थात् आवश्यकताओं का बढ़ जाना ही, दुःख का कारण है। और जहाँ दुःख है, वहाँ सुख रह ही नहीं सकता। उन दोनों में परस्पर वैर है। अत एव उसी को धनी समझना चाहिये जिस की आवश्यकताएँ कम हैं; क्योंकि वह थोड़े ही में तृप्त हो जाता है। तृप्ति ही सुख है; और लोभ ही दुःख है।

सन्तोष नीरोगता का लक्षण है; लोभ बीमारी का लक्षण है। जो मनुष्य खाते खाते सन्तुष्ट नहीं होता उसे अधिक खिलाने की आवश्यकता नहीं पड़ती। उस के लिए वैद्य की आवश्यकता होती है। ऐसे मनुष्यों को अधिक खिलाने की अपेक्षा उन के खाये हुए पदार्थ को वमन कराके बाहर निकालना पड़ता है। क्योंकि अनावश्यक अथवा आवश्यकता से अधिक पदार्थ पेट में रहने से रोग हुए बिना नहीं रहता। इसी तरह जिन को सन्तोष नहीं, अर्थात् जो लोग प्रति-दिन अधिक-अधिक धन इकट्ठा करने के यत्न में रहते हैं, उन को अधिक देने की अपेक्षा उन से कुछ छीन लेना अच्छा है। क्योंकि जब कोई वस्तु कम हो जाती है, तब मनुष्य बची हुई से सन्तोष करता है। अत एव सन्तोष होने से उसे सुख मिलता है। सन्तोष न होने से कभी सुख नहीं मिलता; किसी न किसी वस्तु की सदैव कमी ही बनी रहती है। लोभी मनुष्य को चाहे त्रिलोक की सम्पत्ति मिल जाय, तो भी उसे और सम्पत्ति पाने की इच्छा बनी ही रहेगी।

लोभ एक तरह की बीमारी है; परन्तु है बड़ी सख़्त

बीमारी। सख़ इस लिए है कि वह अपने को बढ़ाने का यत्न करती है, घटाने का नहीं। जो मनुष्य भूखा होता है, वह भोजन करता है; भोजन छोड़ नहीं देता। परन्तु लोभी का प्रकार उलटा है। उसे द्रव्य की भूख रहती है; परन्तु जब वह उसे मिल जाता है, तब उसे वह काम में नहीं लाता; रख छोड़ता है; और अधिक धन पाने के लिये दौड़-धूप करने लगता है।

लोभी मनुष्य बहुधा इस लिए धन इकट्ठा करता है जिस में उसे किसी समय उस की कमी न पड़े। परन्तु उसे कमी हमेशा ही बनी रहती है। पहले उस की कमी कल्पित होती है; परन्तु पीछे से वह यथार्थ—असली—हो जाती है; क्योंकि घर में धन होने पर भी वह काम में नहीं ला सकता। लोभ से असन्तोष की वृद्धि होती है, और सन्तोष का सुख ख़ाक में मिल जाता है। लोभ से भूख बढ़ती है और तृप्ति घटती है। लोभ से मूल-धन व्यर्थ बढ़ता है, और उस का उपयोग कम होता है। लोभी का धन देखने के लिये, वृथा रक्षा करने के लिए और दूसरों को छोड़ जाने ही के लिए है। ऐसे धन से क्या लाभ? ऐसे धन को इकट्ठा करने में अनेक कष्ट उठाने की अपेक्षा संसार भर में जितना धन है, उसे अपना ही समझना अच्छा है। क्योंकि लोभी का धन उस के काम तो आता नहीं; इस लिए उसे दूसरे का धन, मन-ही-मन, अपना समझने में कोई हानि नहीं। उस से उलटा लाभ है, क्योंकि उसे प्राप्त करने के लिए परिश्रम नहीं करना पड़ता। लोभियों को ख़ज़ाने के सन्तरी समझना चाहिए। लोभी मनुष्य जब तक जीते हैं, तब तक सन्तरी के समान अपने धन की रखवाली करते हैं और मरने पर उसे दूसरों के लिए छोड़ जाते हैं।

कोई कोई लोभी, अपने पीछे, अपने लड़कों के काम आने के लिए धन इकट्ठा करते हैं। उन को यह समझ नहीं कि जिस धन के बिना उन का काम चल गया, उस के बिना उन के लड़कों का भी चल जायगा। इस प्रकार बाप-दादे का धन पाकर अनेक लोग बहुधा उसे बुरे कामों में लगाकर खुद भी बदनाम होते हैं और अपने बाप-दादे को भी बदनाम करते हैं।

धनवान् यदि लोभी है तो उसे रात को वैसी नींद नहीं आ सकती जैसी निर्धन अथवा निर्लोभी को आती है। धनवान् को निर्धन की अपेक्षा भय भी अधिक रहता है। यदि मनुष्य लोभी है तो थोड़ी सम्पत्ति वाले से हम अधिक सम्पत्ति वाले ही को दरिद्री कहेंगे। क्योंकि जिसे ५ रुपये की आवश्यकता है, वह उतना दरिद्री नहीं, जितना ५०० रुपये की आवश्यकता वाला है। कहां ५ और कहां ५००। सधनता और निर्धनता मन की बात है। जिन का मन उदार है, वे अनुदार और लोभी मनुष्यों की अपेक्षा अधिक धनवान् हैं। क्योंकि उदारता के कारण उन का धन किसी के काम तो आता है—चाहे वह बहुत ही थोड़ा क्यों न हो। बहुत धन होकर भी यदि मनुष्य लोभी हुआ और उस का धन किसी के काम न आया तो उस का होना न होना दोनों बराबर हैं। शेख़ सादी ने बहुत ठीक कहा है—

तवङ्गरी बदिलस्त न बमाल।

अर्थात् अमीरी दिल से होती है, माल से नहीं।

[अप्रेल १९०८]

(सङ्कलन)

क्रोध

(पण्डित रामचन्द्र शुक्ल)

क्रोध दुःख के कारण के साक्षात्कार वा अनुमान से उत्पन्न होता है। साक्षात्कार के समय दुःख और उस के कारण के सम्बन्ध का परिज्ञान आवश्यक है। जैसे तीन चार महीने के बच्चे को कोई हाथ उठाकर मार दे तो उस ने हाथ उठाते तो देखा है पर अपनी पीड़ा और उस हाथ उठाने से क्या सम्बन्ध है यह वह नहीं जानता है। अतः वह केवल रोकर अपना दुःख-मात्र प्रकट कर देता है। दुःख के कारण के साक्षात्कार के निश्चय के बिना क्रोध का उदय नहीं हो सकता। दुःख के सज्ञान हेतु पर प्रबल प्रभाव डालने में प्रवृत्त करने की मानसिक क्रिया होने के कारण क्रोध का आविर्भाव बहुत पहले देखा जाता है। शिशु अपनी माता की आकृति से अभ्यस्त हो ज्यों ही यह जान जाता है कि दूध इसी से मिलता है भूखा होने पर वह उस की आहट पा रोने में कुछ क्रोध के चिह्न दिखाने लगता है।

सामाजिक जीवन के लिये क्रोध की बड़ी आवश्यकता है। यदि क्रोध न हो तो जीव बहुत से दुःखों की चिर-निवृत्ति के लिए यत्न ही न करे। कोई मनुष्य किसी दुष्ट के नित्य प्रहार सहता है। यदि उस में क्रोध का विकास नहीं हुआ है तो वह केवल 'आह ऊह' करेगा जिस का उस दुष्ट पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उस दुष्ट के हृदय में दया आदि उत्पन्न करने में

बड़ी देर लगेगी। प्रकृति किसी को इतना समय ऐसे छोटे-छोटे कामों के लिए नहीं दे सकती। भय के द्वारा भी प्राणी अपनी रक्षा करता है पर समाज में इस प्रकार की दुःख-निवृत्ति चिरस्थायिनी नहीं होती। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं कि क्रोध के समय क्रोधकर्ता के हृदय में भावी दुःख से बचने वा बचाने की इच्छा रहती है बल्कि चेतन प्रकृति के भीतर क्रोध इसी लिए है।

ऊपर कहा जा चुका है कि क्रोध दुःख के कारण के परिज्ञान वा साक्षात्कार से होता है। अतः एक तो जहाँ इस ज्ञान में त्रुटि हुई वहाँ क्रोध धोखा देता है। दूसरी बात यह है कि क्रोध जिस ओर से दुःख आता है उसी ओर देखता है अपने धारणकर्त्ता की ओर नहीं। जिस से दुःख पहुँचा है वा पहुँचेगा उस का नाश हो वा उसे दुःख पहुँचे यही क्रोध का लक्ष्य है, क्रोध करने वाले का फिर क्या होगा इस से उसे कुछ सरोकार नहीं। इसी से एक तो मनोवेग ही एक दूसरे को परिमित किया करते हैं, दूसरे विचार-शक्ति भी उन पर अकुश रखती है। यदि क्रोध इतना उग्र हुआ कि हृदय में दुःख के कारण की अवरोध-शक्ति के रूप और परिमाण के निश्चय, दया, भय आदि और विकारों के सञ्चार तथा उचित अनुचित के विचार के लिए जगह ही न रही तो बहुत हानि पहुँच जाती है। जैसे कोई सुने कि उस का शत्रु बीस आदमी लेकर उसे मारने आ रहा है और वह चट क्रोध से व्याकुल होकर बिना शत्रु की शक्ति का विचार वा भय किये उसे मारने के लिए अकेला दौड़े तो उस के मारे जाने में बहुत कम सन्देह है। अतः कारण के यथार्थ निश्चय के उपरान्त आवश्यक मात्रा में और उपयुक्त

स्थिति में ही क्रोध वह काम दे सकता है जिस के लिए उस का विकास होता है।

कभी कभी लोग अपने कुटुंबियों वा स्नेहियों से झगड़ कर उन्हें पीछे से दुःख पहुँचाने के लिए अपना सिर तक पटक देते हैं। यह सिर पटकना अपने को दुःख पहुँचाने के अभिप्राय से नहीं होता क्योंकि बिलकुल बेगानों के साथ भी कोई ऐसा नहीं करता। जब किसी को क्रोध में सिर पटकते देखें तब समझ लेना चाहिए कि उस का क्रोध ऐसे व्यक्ति के ऊपर है जिसे उस के सिर पटकने की परवा है अर्थात् जिसे उस के सिर फूटने से यदि उस समय नहीं तो आगे चलकर दुःख पहुँचेगा।

क्रोध का वेग इतना प्रबल होता है कि कभी कभी मनुष्य यह विचार नहीं करता कि जिस ने दुःख पहुँचाया है उस में दुःख पहुँचाने की इच्छा थी वा नहीं। इसी से कभी तो वह अचानक पैर कुचल जाने पर किसी को मार बैठता है और कभी ठोकर खाकर कंकड़ पत्थर तोड़ने लगता है। चाणक्य ब्राह्मण अपना विवाह करने जाता था। मार्ग में कुश उस के पैर में चुभे। वह चट मट्ठा और कुदाली लेकर पहुँचा और कुशों को उखाड़ उखाड़ कर उन की जड़ों में मट्ठा देने लगा। मैं ने देखा कि एक ब्राह्मण देवता चूल्हा फूँकते फूँकते थक गये। जब आग नहीं जली तब उस पर कोप करके चूल्हे में पानी डाल किनारे हो गये। इस प्रकार का क्रोध असंस्कृत है। यात्रियों ने बहुत से ऐसे जंगलियों का हाल लिखा है जो रास्ते की पत्थर की ठोकर लगने पर बिना उस को चूर चूर किये आगे नहीं बढ़ते। इस प्रकार का क्रोध अपने दूसरे भाइयों के स्थान को दबाये पड़ा है। अधिक अभ्यास के कारण यदि कोई मनोवेग अधिक

प्रबल पड़ गया तो वह अन्तःकरण में अव्यवस्था उत्पन्न कर मनुष्य को फिर बचपन से मिलती जुलती अवस्था में ले जाकर पटक देता है।

क्रोध सब मनोविकारों से फुरतीला है। इसी से अवसर पड़ने पर यह और दूसरे मनोविकारों का भी साथ देकर उन की सहायता करता है। कभी वह दया के साथ कूदता है, कभी घृणा के। एक क्रूर कुमार्गी किसी अनाथ अबला पर अत्याचार कर रहा है। हमारे हृदय में उस अनाथ अबला के प्रति दया उमड़ रही है। पर दया की पहुँच तो आर्त ही तक है। यदि वह स्त्री भूखी होती तो हम उसे कुछ रुपया-पैसा देकर अपने दया के वेग को शांत कर लेते। पर यहां तो उस दुःख का हेतु मूर्तिमान् तथा अपने विरुद्ध प्रयत्नों को ज्ञानपूर्वक व्यर्थ करने की शक्ति रखने वाला है। ऐसी अवस्था में क्रोध ही उस अत्याचारी के दमन के लिये उत्तेजित करता है जिस के बिना हमारी दया ही व्यर्थ जाती है। क्रोध अपनी इस सहायता के बदले में दया की वाह-वाही को नहीं बाँटता। काम क्रोध करता है पर नाम दया का ही होता है। लोग यही कहते हैं "उस ने दया करके बचा लिया" यह कोई नहीं कहता कि "क्रोध करके बचा लिया।" ऐसे अवसरों पर यदि क्रोध दया का साथ न दे तो दया अपने अनुकूल परिणाम उपस्थित ही नहीं कर सकती। एक अघोरी हमारे सामने मक्खियां मार-मारकर खा रहा है और हमें घिन लग रही है। हम उस से नम्रता पूर्वक हटने के लिये कह रहे हैं और वह नहीं सुन रहा है। चट हमें क्रोध आ जाता है और हम उसे बलात् हटाने में प्रवृत्त हो जाते हैं।

क्रोध के निरोध का उपदेश अर्थपरायण और धर्म-

परायण दोनों देते हैं । पर दोनों में जिसे अति से अधिक सावधान रहना चाहिये वही कुछ भी नहीं रहता। बाकी रुपया वसूल करने का ढंग बताने वाला चाहे कड़े पड़ने की शिक्षा दे भी दे पर धज के साथ धर्म की ध्वजा लेकर चलने वाला धोखे में भी क्रोध को पाप का बाप ही कहेगा । क्रोध रोकने का अभ्यास ठगों और स्वार्थियों को सिद्धों और साधकों से कम नहीं होता । जिस से कुछ स्वार्थ निकालना रहता है, जिसे बातों में फँसा कर ठगना रहता है उस की कठोर से कठोर और अनुचित से अनुचित बातों पर न जाने कितने लोग ज़रा भी क्रोध नहीं करते । पर उन का यह अक्रोध न धर्म का लक्षण है न साधन ।

बैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है। जिस से हमें दुःख पहुँचा है उस पर हम ने जो क्रोध किया वह हमारे हृदय में बहुत दिनों तक टिका रहा तो वह बैर कहलाता है। इस स्थायी रूप में टिक जाने के कारण क्रोध की क्षिप्रता और हड़बड़ी तो कम हो जाती है पर वह और धैर्य्य, विचार और युक्ति के साथ लक्ष्य को पीड़ित करने की प्रेरणा बराबर बहुत काल तक किया करता है। क्रोध अपना बचाव करते हुए शत्रु को पीड़ित करने की युक्ति आदि सोचने का समय नहीं देता पर बैर इस के लिए बहुत समय देता है । वास्तव में क्रोध और बैर में केवल काल-भेद है। दुःख पहुँचाने के साथ ही दुःखदाता को पीड़ित करने की प्रेरणा क्रोध और कुछ काल बीत जाने पर बैर है। किसी ने हमें गाली दी। यदि हम ने उसी समय उसे मार दिया तो हम ने क्रोध किया। मान लीजिए कि वह गाली देकर भाग गया और दो महीने बाद हमें कहीं मिला। अब यदि उस

से बिना फिर गाली सुने हम ने उसे मिलने के साथ ही मार दिया तो यह हमारा बैर निकालना हुआ। इस विवरण से स्पष्ट है कि बैर उन्हीं प्राणियों में होता है जिन में धारणा अर्थात् भावों के सञ्चय की शक्ति होती है। पशु और बच्चे किसी से बैर नहीं मानते। वे क्रोध करते हैं और थोड़ी देर के बाद भूल जाते हैं। क्रोध का यह स्थायी रूप भी आपदाओं की पहिचान कराकर उन से बहुत काल तक बचाये रखने के लिये दिया गया है।

(हिन्दी निबन्धमाला, पहला भाग)

———

महाकवि अकबर

(पण्डित श्री पद्मसिंह शर्म्मा)

महाकवि अकबर इस युग के एक अलौकिक महापुरुष थे। उर्दू और हिन्दी में ही नहीं; भारत की दूसरी किसी भाषा में भी ऐसा क्रान्तदर्शी और क्रान्तिकारी कवि इधर बहुत समय से नहीं हुआ। मुझे उन की कविता का रंग और ढंग बहुत पसन्द रहा है। सब से पहले कानपुर के 'ज़माने' में (जनवरी सन् १६०४ ई० के पर्चे में) मैं ने उन की यह कविता पढ़ी थी—

"फ़लक के समाने क्या मज़हबी बहाना चले
चलेंगे हम भी उसी रुख़ जिधर ज़माना चले।"

यह पहली कविता ही नज़र पर चढ़कर दिल में बैठ गई। मैं अकबर की कविता के लिए बेताब रहने लगा, कहीं एक मिसरा भी उन का मिल जाता तो उसे नोट कर लेता, बार बार पढ़ता और जी न भरता। उन का 'दीवान' देखने के लिए दीवाना रहने लगा। बड़ा आदमी समझ कर अकबर-साहब को पत्र लिख कर कुछ पूछने में संकोच होता था। थोड़े ही दिनों में 'अकबर' की कविता की धूम मच गई। कविता के प्रेमी सहृदय समाज ने अकबर साहब को 'दीवान' (काव्यसंग्रह) प्रकाशित करने के लिए मजबूर किया, और 'कुल्लियाते-अकबर' का पहला हिस्सा छपकर निकल गया। पत्रों में समालोचना पढ़कर मैं ने 'कुल्लियाते-अकबर' का पहला हिस्सा मँगाया।

कविता का नशा

यह जून सन् १९११ के प्रारम्भ की बात है । वह दिन अब तक याद है। अकबर का 'दीवान' पाकर दिले-दीवाना खुशी से मस्ताना हो नाचने लगा। एक मुद्दत की आरज़ू पूरी हुई थी, उस खुशी का बयान नहीं हो सकता । मैं उन-दिनों ज्वालापुर महाविद्यालय में था । दिन में पढ़ने की फुर्सत न मिली, 'भारतोदय' के संपादन में और विद्यार्थियों के पढ़ाने में लगा रहा। दो एक मित्र भी बाहर से आये हुए थे। मेरे पास ठहरे थे, उन से छुट्टी न मिली। गरमी का बड़ा दिन पहाड़ की तरह टलता न था-छिपता न था, रात की प्रतीक्षा में दिन की स्थिति असह्य हो रही थी—दिन काटे न कटता था, रात आती न थी, उत्सुकता और बेचैनी बढ़ रही थी। ज्यों त्यों कर के दिन मुँदा, रात आई। चाय पीकर लैम्प जलाया, किताब हाथ में उठाई, पढ़ने बैठा ही था कि आगन्तुक मित्रों की मण्डली ने आ घेरा—अजी रहने भी दो, इस गरमी में पढ़ने बैठे हो ? किताब कहीं भागी जाती है, दिन में पढ़ लेना । एक साहब उठे, लैम्प उठा कर दूर रख आए, दूसरे किताब छीनने लगे। वर्षों के भूखे के आगे से भले आदमियों ने परसा हुआ थाल उठा लिया ! उन्हें अपनी समुत्सुकता कैसे समझाता ! उन के दिल में अपना दिल कैसे डालता ! बहुत कहा कि मैं अलहदा बैठ कर पढ़ लूँगा, आप लोग आराम कीजिए, पर कौन सुनता था-वाह अच्छे पढ़ने वाले आये, हम यहाँ यों ही आए हैं ! क्या उकता गये हो ? हम क्या यहाँ बैठे रहेंगे? ऐसा ही है तो हम प्रातः काल चले जाँएगे, फिर पढ़ते रहना । अब पढ़ोगे, और हम से बातें न करोगे ?—मैं मन-मन में मनाने

लगा—इस स्तोत्र का पाठ करने लगा—

'या देवी सर्वभूतेषु निद्रारूपेण संस्थिता।
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ॥'

भगवति देवी ! निद्रे ! कृपा करो, इन्हें लेकर सो जाओ, मेरा उद्धार करो। पर उन्हें नींद कहाँ ? एक बात ख़त्म नहीं होती थी कि दूसरी का सिलसिला छिड़ जाता था। राम-राम करते दस बजे के क़रीब नींद ने मेरी पुकार सुनी, वह आई, और उन की आँखों में छा गई। मैं आहिस्ता से उठा और लैम्प लेकर अन्दर बरांडे में जा बैठा। गरमी कुछ कम न थी। पसीने पर पसीने आ रहे थे, पंखा झलूँ कि किताब पढ़ूँ। पतंगे कमबख़्त अलहदा नाक में दम कर रहे थे; मानो सोने वालों ने अपना चार्ज पतंगों को दे दिया था। उन की ड्यूटी पर वह आ रहे थे ! झुण्ड के झुण्ड पतंगे (परवाने) चिमनी की दीवार पर सिर दे दे मार रहे थे, लौ से लिपटने को जूझ रहे थे, मानो ज़बाने-हाल से अकबर के इस शेर का मतलब सुना रहे थे—

'फ़ानूस को परवानों ने देखा तो यह बोले;
क्यों हम को जलाते हो कि जलने नहीं देते ॥'

और इस न जल सकने की जलन को मुझ पर उतार रहे थे। नहीं, शिक्षा दे रहे थे कि 'सच्ची लगन है तो हमारी तरह लिपट जाओ किताब से, गरमी का ख़याल न करो, हमारी तरफ़ मत देखो, आख़िर पढ़ने की इच्छा-शक्ति ने इस विघ्न पर विजय पाई, मैं तन्मय होकर पढ़ने लगा। पढ़ते-पढ़ते समाधि सी हो गई, आँखें और पुस्तक के पृष्ठ खुले थे, बाक़ी इन्द्रिओं का व्यापार बन्द था। बड़े साइज़ के २८२ पृष्ठ से ऊपर की पुस्तक एक आसन से लेटे-लेटे पढ़ गया। पढ़ता था और मस्ती का एक

नशा सा चढ़ता जाता था, पैन्सिल हाथ में थी, चमत्कृत पद्यों पर चिह्न करता जाता था। सारी पुस्तक रंग डाली, खांड की रोटी जिधर से तोड़ी, मीठी निकली। हृदय में विविध भावों का तूफ़ान-सा उठ रहा था, हृदय के प्रसुप्त—वासनान्तर्विलीन—भाव जागृत हो उठे, अपने बहुत से अनुभव कविता के दर्पण में प्रतिबिम्बित दिखाई देने लगे—ग़ालिब का यह मशहूर शेर उस समय अकबर की कविता पर चरितार्थ हो रहा था—

'देखना तक़रीर की लज़्ज़त कि जो उस ने कहा।
मैं ने यह जाना कि गोया यह भी मेरे दिल में॥'

कभी आह निकलती थी, तो कभी वाह। कभी रोता था, तो कभी हँसता था। एक अनिवर्चनीय दशा थी, जो लिखकर नहीं बताई जा सकती। आज इतने दिनों बाद इस समय उस की स्मृति भी एक आनन्द दे रही है। पढ़ते-पढ़ते रात बीत गई, सूर्य निकल आया, पर मैं होश में न आया। उसी मस्ती की धुन में पड़ा पढ़ता रहा। एक आवृत्ति हो गई, तो दूसरी शुरू कर दी। मैं किताबों का कीड़ा हूँ, जाड़े, गरमी और बरसात की सैकड़ों रातें तल्लीनता से पढ़ते-पढ़ते यों ही आंखों में निकल गई हैं, पर उस रात-का-सा ब्रह्मानन्द-सहोदर आनन्द दो चार बार ही कभी मिला होगा। ख़ैर, मित्र-मण्डली उठ बैठी और उस ने आकर मुझे उठा दिया—'सूर्य चढ़ आया और तुम्हें ख़बर न हुई। लैम्प तो बुझा दिया होता।' मजबूरी थी, कोई बहाना बाक़ी न रहा था। उठना ही पड़ा। दिन भर रात की वह कैफ़ियत दिमाग़ में चक्कर काटती रही, एक नशा सा छाया रहा।

पत्र व्यवहार

पहला हिस्सा पढ़ कर मैं ने अकबर साहब को ख़त लिखा और दरयाफ़्त किया कि दूसरा हिस्सा कब तक निकलेगा। पहले हिस्से की कुछ थोड़ी सी डरते-डरते दाद भी दी, दूसरे के लिए इश्तियाक़ का इज़हार किया—हलका सा तक़ाज़ा किया। उसके उत्तर में १९ जून सन् १९१२ को अक़बर साहब ने ख़ुद अपने क़लम से मुख़्तसिर-सा कार्ड लिखा, यह उन का पहला पत्र था—

"डियर सर, मुझ को मुसर्रत हुई कि आप मेरे नाचीज़ अशआर की ऐसी क़द्रदानी फ़रमाते हैं। हिस्सा दोम छप रहा है। मतबे वाले निहायत सुस्ती से काम करते हैं, क्या किया जाय। उम्मीद है, माह जुलाई में किताब की अशाअत हो जाय। आप का इस्मे-गरामी मुन्दर्ज-रजिस्टर कर लिया गया।

नियाज़मन्द—
अकबर हुसैन।

मेरा नाम अकबर साहब के रजिस्टर में लिख लिया गया! इसे अपनी ख़ुश-क़िस्मती समझ कर ख़ुश हुआ। पत्र-व्यवहार का एक बहाना हाथ आ गया—

'ख़त लिखेंगे गरचे मतलब कुछ न हो,
हम तो आशिक़ हैं तुम्हारे नाम के॥'

दूसरा ख़त लिखा और ज़रा खुलकर लिखा; एक दम दर्जन भर बातें पूछ डालीं। इस बीच में दूसरा हिस्सा भी छप चुका था। मेरे ख़त के जवाब में अकबर-साहब ने लिखा, यह दूसरा ख़त था,—

"डियर सर, हस्ब इरशाद एक कापी हिस्से दोम की वेल्यू-पेबिल इरसाल-ख़िदमत है । आप के ख़त के मज़ामीन ने मुझ को एक और ही आलम में पहुँचा दिया ! आप ने बहुत ज़्यादा क़द्रदानी की है, आप की तबीयत बहुत बुलन्द और मानी-फ़हम मालूम होती है । मैं एक सख़्त मजबूरी से इस वक़्त एक सफ़र में जा रहा हूँ, दो तीन दिन बाद आप के ख़त का जवाब लिखूँगा । ख़ातिर-जमा रखिए ।"—

अकबर के दरबार से 'सख़ुन-फ़हमी' का सार्टीफ़िकेट मिल गया । मुझे कलाम-अकबर के मुताल्लिक़ अपनी समझ पर कुछ शक था, वह जाता रहा । समझा कि ठीक समझा हूँ । अब कलामे-अकबर को और गहरी नज़र से देखने लगा । काव्य-सागर की तह में ग़ोते लगा-लगाकर सूक्ति-रत्न निकालने लगा । कई अनर्घ रत्न ऐसे अछूते हाथ लगे, जिन की क़ीमत अभी जोहरियों के बाज़ार में कूती न गई थी ; किसी की नज़र पर न चढ़े थे । मैं ने उन्हें आंका तो बहुत क़ीमती मालूम हुए । पर साथ ही शक हुआ, शायद मैं ग़लती पर हूँ—परख में भूल हुई हो, स्वयं रत्नों के विधाता से—खुदाए सखुन से ही न पूछूँ कि इन का 'भाव' यही है, या और कुछ ? कतिपय ऐसे ही पद्य-रत्नों की विवेचना लिखकर मैं ने अकबर साहब के पास भेजी । अपनी जाँच पर उन की सम्मति सुनकर सन्तोष हुआ कि वही भाव है, जो मैं ने समझा था । इस प्रकार अपनी कविता का पारखी और प्रेमी भक्त जानकर अकबर-साहब मुझ पर विशेष कृपा करने लगे । कृपा बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ी कि अपने 'ख़ास-अहबाब में' मेरा शुमार करने लगे । उन्हें मुझ से एक 'रूहानी-ताल्लुक़' (आत्मिक-सम्बन्ध) हो गया । इस

रूहानी ताल्लुक़ का ज़िक्र उन्हों ने अपने कई ख़तों में किया है। शुरू-शुरू में मुझे उन से पत्र-व्यवहार में सङ्कोच होता था। फ़सीह उर्दू में मैं अपना मतलब शाइराना ढंग से इस तरह अदा कर सकूँगा कि वह समझ जाँय, इस का मुझे विश्वास न होता था। मैं उर्दू-साहित्य पढ़ता तो बहुत था, पर लिखने का मुझे इतना अभ्यास न था। कुछ उर्दूदां मित्रों को उर्दू में पत्र लिखने के सिवा बहुत कम उर्दू में लिखने का मौक़ा पड़ता था। मैं सोचता था कि इतने बड़े शायर और ज़बरदस्त इन्शापरदाज़-अहले-क़लम—को टूटी-फूटी उर्दू में क्या लिखूँ, लेकिन इस के सिवा कोई सूरत न थी। मैं जानता था कि वह हिन्दी नहीं जानते, मैं ने हिम्मत करके उर्दू ही में लिखा, और मुझे यह देख कर खुशी हुई कि अकबर-साहब को मेरी उर्दू पसन्द आई। यही नहीं, दाद देकर उन्हों ने मेरा हौसला बढ़ाया। एक ख़त में लिखा था—

"××× आप का अलताफ़नामा (कृपापत्र) इस वक़् पेशे-नज़र है। माशा-अल्ला! आप क्या जीती जागती उर्दू लिखते हैं!"

दूसरे ख़त में लिखते हैं—"××× पन्द्रह दिन से रोज़ इरादा करता हूँ कि कल जवाबे-ख़त लिखूँगा और कल को फिर कल पर टालता हूँ। बात यह है कि आप का इनायत-नामा ऐसा है कि उस का जवाब दो हरफ़ों में देना सितम है। अव्वल तो आप की क़ाबलियत की दाद, मेरे बाज़ अहबाब (मित्र) आप की तहरीर सुनकर फड़क गये......।"

उस दिन से मुझे विश्वास हो गया कि मैं उर्दू में अपना मतलब अच्छी तरह अदा कर सकता हूँ। जनाब अकबर और उन

के बाज़ अहबाब, मेरी तहरीर सुनकर चाहे फड़क न भी गए हों, तो भी मेरा मतलब ज़रूर समझ गए। उर्दू के बहुत से अहम्मन्य मुसलमान लेखक जो फ़सीह उर्दू का मालिक खुद को समझ बैठे हैं, और कहते हैं कि हिन्दू और वह भी हिन्दीदां हिन्दू, अच्छी उर्दू लिख ही नहीं सकते, यह बात ग़लत है। हिन्दू के लिए उर्दू हव्वा नहीं है, मुसलमानों के लिए हिन्दी भले ही हव्वा हो। कम-से-कम अकबर साहब ऐसा नहीं समझते थे; वह एक हिन्दीदां हिन्दू की उर्दू की भी पसन्द आने पर उदारता से दाद से देते थे। गुण-ग्राहकता अकबर साहब का असाधरण गुण था। उर्दू के सुलेखक 'ज़माना' सम्पादक श्रीयुत् मुन्शी दयानारायण निगम (बी० ए०) को आप ने यह लिखकर दाद दी थी—

"आप का (निगम-साहब का) ख़त पढ़ कर पहली ही जो बात ज़हन में आई, वह यह थी—अज़ीज़ अज़ जान! यह उर्दू आप को किस तरह आ गई! आप कहेंगे, भला यह भी कोई बात है, जी हाँ यह एक बात है, और बड़ी बात है।"

परिचय के प्रारम्भ में मुझे सन्देह था कि अकबर के दरबार से पत्रोत्तर पाने का सौभाग्य मुझे प्राप्त होगा, पर आगे चलकर नौबत यहाँ तक पहुँची कि यदि कभी मैं पत्र लिखने में देर करता था, तो उन्हें खुद तरद्दुद होता था, मेरा हाल दूसरों से पूछते थे। एक बार जब मेरा पत्र पहुँचने में विलम्ब हुआ, तो आपने श्रीयुत् मित्रवर रामदास गौड़ को पत्र लिखा। इत्तफ़ाक़ से उसी वक़ मेरा पत्र भी पहुँच गया। आप ने लिखा—

"××× मेरे प्यारे पण्डित साहब! आप की ख़ैरियत

दर्याफ़्त करने को मैं ने बाबू रामदास को बनारस ख़त लिखा। आज अभी उस का जवाब आया, और उसी के साथ आप का ख़त भी आ पहुँचा। मुझ को बड़ा ताज्जुब हुआ! सच है, दिल से दिल को राह है, ××× आप की मुहब्बत के मज़े लेता हूँ, अपनी ख़ैरियत से महीने में दो एक बार मुतला किया कीजिए।"

मेरी माता जी के देहान्त का हाल उन्हें गौड़ जी के पत्र से मालूम हुआ, तो यह हमदर्दी का पत्र लिखा—

"आप की वाल्दा-साहिबा के इन्तकाल की ख़बर सुनकर निहायत अफ़सोस हुआ। माँ बड़ी नियामत होती है। तहे-दिल से इस रंज में आप का हम-दर्द हूँ। अपना हाल क्या लिखूँ, दुनिया से दिल-बरदाश्ता, सफ़रे-आख़रत का मुन्तज़िर बैठा हूँ, याराने-मुवाफ़िक़ कम मिलते हैं।"

अपनी महायात्रा से कुछ दिनों पहले अपने आख़िरी ख़त में (६ अगस्त, सन् १९२१ ई० को) लिखा था—

"××× अगरचे बहुत नातवाँ वा अलील हूँ, दुनिया से रुख़सत का वक़्त है, लेकिन आप का इश्तियाक और आप की याद दिल में है—आप की ख़ैरियत बाबू रामदास साहब से पूछी है।"

जब आप से मुलाक़ात होती, तो बड़ी मुहब्बत से मिलते थे। घण्टों बातें होती थीं, अपनी नई कविता सुनाते थे। सन् १९१२ में उन से पत्र-व्यवहार द्वारा मेरा प्रथम परिचय हुआ था। कई बार मैं ने प्रयाग जाकर उन के दर्शन भी किए। उत्तरोत्तर आत्मीयता तथा स्नेह बढ़ता ही गया।

मुझे उन की क़दामत-पसन्दी (अपनी प्राचीन संस्कृति में आस्था) बहुत पसन्द थी। इस पर अक्सर बातें होती थीं

और बहुत मज़े की बातें होती थीं। अब याद आती है, तो दिल थाम कर रह जाता हूँ। एक बार की मुलाकात में मुझ से पूछा—'तुम ने अपने लड़के को क्या तालीम दिलाई है?' मैं ने कहा—'संस्कृत पढ़ाई है।' सुनकर बहुत ही खुश हुए और उठकर मेरी पीठ ठोंकी। इसी सिलसिले में बातें करते करते कुछ सोचने लगे, मैं ताड़ गया कि इस प्रसंग की कोई सूक्ति सोच रहे हैं, जो इस वक़्त याद नहीं आती। मैं ने कहा आप का एक शेर है, इसी की तलाश तो नहीं हो रही—

'बदन में रूह आ जाती है जब बे-गोरी रङ्गत के,
तो बे इंग्लिश पढ़े रोटी भी मिल सकती है नेटिव को।'

सुनकर फड़क गए, और उठकर फिर मेरी पीठ थपकी। कहा—'शाबाश! मैं इसी शेर को सोच रहा था, जो ज़हन से उतर गया था। आप कैसे समझ गये कि मैं इसी की तलाश में हूं? सचमुच इस वक़्त आप को इलहाम हुआ है।' मैं ने अर्ज़ की—इलहाम तो नहीं, पर मुझे आप का हर मौके का चुना हुआ कलाम याद है; मैं समझा कि इसी की तलाश है—यही इस मौक़े के लिए मौज़ूँ है।

धर्म-हीन नवीन शिक्षा से उन्हें चिढ़-सी थी। उन्हों ने नई तालीम और मग़रबी तहज़ीब पर अपने कलाम में जाबजा बड़ी मज़ेदार चुटकियाँ ली हैं—

'नई तालीम को क्या वास्ता है आदमीयत से,
जनाबे-डारविन को हज़रते-आदम से क्या मतलब।'
'नई तहज़ीब में भी मज़हबी तालीम शामिल है,
मगर यों ही कि गोया आबे-ज़मज़म मै में दाख़िल है।'
'हम ऐसी कुल किताबें क़ाबिले-ज़ब्ती समझते हैं,

कि जिन को पढ़.के लड़के बाप को ख़ब्ती समझते हैं।'

'अतफ़ाल में बू आये क्या माँ-बाप के अबवार की,
दूध डब्बे का पिया तालीम है सरकार की।'

'तालीम जो दी जाती है हमें, वह क्या है फ़क़त बाज़ारी है,
जो अक़्ल सिखाई जाती है, वह क्या है फ़क़त सरकारी है।'

'ईमान बेचने पै हैं अब सब तुले हुए,
लेकिन ख़रीद हो जो अलीगढ़ के भाव से।'

एक ख़त में लिखते हैं—"××× तर्ज़-तालीम ने लड़कों को सत्यानासी कर रखा है। देखिये कब इसलाह होती है।"

हिन्दी-संसार को अकबर के परिचय देने का सौभाग्य सर्व-प्रथम मुझे ही प्राप्त है। जब मैं ने अपने लेखों में अकबर के तथा दूसरे उर्दू-कवियों के शेर उद्धृत करने प्रारम्भ किये; तो विशुद्ध पण्डिताई-हिन्दी के पक्षपाती कई सज्जन बिगड़े थे। वह इस प्रथा को—"गंगा की गैल में मदार के गीत" बताते थे। मुझ पर भाषा को भ्रष्ट करने का दोष आरोपण करते थे; पर आगे चलकर यह प्रथा चल पड़ी। जब कि हिन्दी वाले अकबर को समझने लगे; तो वह भी अपने लेखों को उर्दू कवियों की सुन्दर सूक्तियों से सजाने लगे; और अब तो उर्दू की लम्बी-लम्बी कविताएँ हिन्दी-पत्रों में बराबर छपती हैं। यह एक आम बात हो गई है।

मेरे एक पत्र के उत्तर में (जिस में मैं ने अपने हिन्दी-लेखों में उन के पद्यों के उद्धरण का उल्लेख किया था) लिखते हैं—

"××× आप ने मेरे नाचीज़ अशआर की बड़ी क़द्र

की, कि हिन्दी तसनीफ़ में उन को दाख़िल किया और इज़्ज़त-अफ़ज़ायी की; मैं चाहता हूँ कि आइन्दा हिन्दी के खूबसूरत और सुबुक (हलके) और मानीख़ेज़ (भावपूर्ण) अलफ़ाज़ को ज़्यादा-तर उर्दू में दाख़िल करूं । अफ़सोस है कि मैं ने हिंदी नहीं पढ़ी ; उम्मीद है कि कोई ज़ी-इल्म दोस्त मदद दे ।"

एक बार जब मैं उन से मिलने गया, तो 'आज़ाद' बिलग्रामी की फ़ारसी किताब 'सर्वे-आज़ाद' दिखाकर बोले कि—'फ़ारसी कलाम के साथ इस में कुछ हिंदी-कलाम भी है, जो समझ में नहीं आता, सही पढ़ा नहीं जाता। इस में से हिन्दी कलाम (कविता) कुछ सुनाइये तो। मैं ने सुनाया, उस का अर्थ भी समझाया। सुन कर बहुत खुश हुए और कहने लगे।

"आज हिन्दू-मुसलमान हिन्दी-उर्दू के लिये भी लड़ते हैं—दूसरी बातों के सिवा ज़बान का सवाल भी लड़ाई का सबब बन रहा है, देखिये यह पहले मुसलमान लोग अरबी फ़ारसी के आला-दरजे के शाइर होने के बावजूद हिन्दी में भी शाइरी करते थे ! काश मुझे हिन्दी आती होती, तो मैं भी हिन्दी में कुछ लिखता।"

मैं ने कहा—'इतना तो आप अब भी कर सकते हैं कि हिन्दी के आमफहम अलफ़ाज़—(जिन्हें आजकल के उर्दू-लेखक बिला-वजह छोड़ते जा रहे हैं और उन की जगह अरबी फ़ारसी के मुशकिल अलफ़ाज़ ढूँढ-ढूँढ कर इस्तेमाल करते हैं) अपने कलाम में कसरत से दाख़िल कीजिये, जिस से दूसरे भी तक़लीद करें, ज़बान और सलीस और आमफ़हम हो जाय।' इस पर फ़रमाया—

"मुनासिब तो यही है, पर अफ़सोस है कि मुझे हिन्दी नहीं आती, वर्ना मैं ज़रूर ऐसा करता। हिन्दी आ जाय तो आप के मशवरे पर अमल कर सकता हूँ। कोई हिन्दीदां दोस्त इस में मेरी इमदाद करें तो हो सकता है। आप मुझे हिन्दी सिखा दीजिए।"

अकबर साहब मान-मर्यादा और पद-प्रतिष्ठा की दृष्टि से बहुत बड़े आदमी थे। जज के ओहदे से रिटायर हुए थे। अंग्रेज़ी के विद्वान् थे। अंग्रेज़ी सभ्यता के सब रङ्ग देख चुके थे, पर रहन-सहन और आचार-व्यवहार में पक्के स्वदेशी थे। अपनी संस्कृति के उपासक और प्राचीनता के परम प्रेमी थे। स्वभाव के सरल और मिलनसार थे। सब से पहली मुलाक़ात की बात अक्सर याद आ जाती है। पत्र-व्यवहार तो बहुत दिनों से चल रहा था। दोनों ओर से मुलाक़ात की तमन्ना का इज़हार होता आ रहा था, पर उस से पहले मिलने का मौक़ा न मिला था। कलकत्ते से लौटता हुआ मैं मिलने की ग़रज़ से ८ मार्च सन् १९१५ ई० को प्रयाग उतरा। एक जगह असबाब रख कर सीधा इशरत-मंज़िल पहुँचा। पहले से कोई सूचना नहीं दी थी। गया और सलाम कर के कुछ फ़ासले पर पड़ी हुई सामने की एक कुर्सी पर अदब से बैठ गया। अक़बर साहब उस वक़्त एक सज्जन से बातें कर रहे थे। थोड़ी देर बाद नज़र मिली, तो पूछा-'कहां से आप तशरीफ़ लाए?' मैं ने नाम बताया, तो बड़ी उत्सुकता से उठे और मेरी ओर बढ़े, मैं खड़ा हो गया; पास आकर बड़े प्रेम से मुसकराते हुए बोले-'माफ़ कीजिए, मालूम न था, आप हैं। पण्डित साहब! कुछ हर्ज तो न होगा-आप को नागवार तो न गुज़रेगा—मैं बग़लगीर होकर मिल लूँ?'

मैं ने झुक कर कहा—'ज़हे-क़िस्मत, बग़ल-गीरी क्या क़दम-बोसी भी हासिल हो जाय तो मुराद पा जाऊँ।' फिर बड़े प्रेम से गले मिले, और देर तक ख़ूब खुल कर बे तकल्लुफ़ी से बातें करते रहे। जब मैं रुख़सत होने लगा, तो कहने लगे—'इतनी जल्दी; आप का असबाब कहाँ है? यह न होगा। आप को यहीं क़याम करना होगा। तशरीफ़ रखिए। अभी आदमी जाकर असबाब उठवा लायगा।' मैं ने अर्ज़ किया कि मुझे आज ही रात को जाना है। दो एक जगह और मिलना है। जाने को जी तो नहीं चाहता, फिर कभी हाज़िर हूँगा। अब इजाज़त दीजिए। मुश्किल से इजाज़त मिली। बाग़ के हिन्दू माली को बुलाकर हुक्म दिया—'बाज़ार से दो रुपये की उम्दा मिठाई और कुछ फल लाओ और पण्डित जी के डेरे पर पहुँचा आओ।' मैं ने हर-चन्द कहा, इस की क्या ज़रूरत है, पर एक उज्र न सुना, मिठाई और फल मँगवाकर ही माने। 'प्रसाद' समझ कर स्वीकार करना पड़ा।'

मेरा कोई सहृदय मित्र या आत्मीय जब किसी काम से इलाहाबाद जाता था; तो मैं उस से अकबर साहब से मिल कर आने का अनुरोध कर दिया करता था। एक बार मेरे आत्मीय श्रीमान् रामचन्द्र जी दत्यानवी, एक मुक़द्दमे के सिलसिले में इलाहाबाद गये। अक़बर साहब से मिले, और एक रुपया हाशम को (अकबर साहब के छोटे लड़के को) मिठाई के लिये दे आये। इस घटना के बाद मेरे एक पत्र के उत्तर में अकबर साहब ने जो पत्र मुझे लिखा था, उसे मैं यहां ज्यों-का-त्यों उद्धृत करता हूँ। उस के पद-पद से कितना गहरा प्रेम और अकृत्रिम कृतज्ञता का भाव टपक रहा है, यह उस के

पढ़ने से ही मालूम होगा। पत्र क्या है, सहृदयता का मनोहारी चित्र है—मुँह-बोलता फ़ोटो है,—

(पत्र की नक़ल)

इलाहाबाद

इशरत-मंज़िल

९ फरवरी, सन् १९१३ ई०

"शफ़ीक़े-मुकर्रम, ज़ाद-लुत्फ़हू,

चन्द रोज़ हुए आप के एक दोस्त तशरीफ़ लाये थे। उन्हों ने हस्ब-हिदायत आप की, कुल्लियाते-अक़बर की दोनों जिल्दें ख़रीद कीं। उन का कोई मुक़द्दमा था। चिराग़ जला चाहता था, मुझ को आंखों की शिकायत है। मेरा छोटा लड़का हाशम सामने आया, उन को सलाम कर के कुरसी पर बैठ गया। आप के दोस्त ने हाथ बढ़ाकर हाशम के हाथ में कुछ दिया। मैं न समझ सका कि क्या बात हुई, फिर वह मुझ से रुख़सत हो के कह गये थे कि फिर मिलूँगा। उन के जाने के बाद हाशम ने मुलाज़िम को एक रुपया यह कहकर दिया कि पण्डित साहब किताब की क़ीमत दे गये हैं। मुझ को ताज्जुब हुआ, क्योंकि किताब की क़ीमत तो आप के दोस्त मुलाज़िम को पहले ही दे चुके थे। उस वक़् हम लोगों को यह मालूम हुआ कि आप के दोस्त ने हाशम को एक रुपया इनाम के तौर पर मिठाई खाने को दिया था। हाशम के सामने किताब की क़ीमत नहीं दी गई थी, वह यह समझे कि पण्डित साहब ने एक जिल्द हिस्से दोयम की ख़रीद की है, और उस की यह क़ीमत अदा की। हाशम बहुत अफ़सोस के साथ मुझ से कहने लगे कि अब्बा! बड़ी ग़लती हुई! न मैं ने सलाम

किया, न शुक्रिया अदा किया। मुझ को भी निहायत नदामत हुई, और इस के साथ ही अगले वक़्तों की मेल-मुहब्बत और शफ़क़त की बातें याद आईं। आप के दोस्त ने एक बड़ी पुरानी रस्म का बर्ताव किया, जिस का अब वजूद न रहा, और मुझ को वहमो-गुमान भी न था। यही बातें थीं कि दिलों को मिला देती थीं, भाई बना देती थीं, फ़र्क़े-मज़ाहब को मिटा देती थीं, एक दूसरे का जां-निसार बना देती थीं। अब तो जनाब! अग़यार क्या मानी, आपस ही में ऐसी शफ़क़तों के इज़हार का ख़्याल कम है। एक-एक बाद-ए-खुद परस्ती में महवोसरशार है। कौन्सिल और कमेटी, कोतवाली और अख़बार मौजूद है, फिर आपस में मुहब्बत बढ़ाने, भाई-चारा करने की क्या ज़रूरत है! मैं दरहक़ीक़त उन के इस बरताव पर आबदीदा हो गया। यह भी ख़्याल आया कि आप के दोस्त आप के कैसे सच्चे मोतक़िद और अज़ीज़बावफ़ा और ख़ैरतलब हैं कि मुझ को आप का नियाज़-मन्द समझ कर उन्हों ने यह रस्म अदा की। मैं ने उसी वक़्त आदमी को दौड़ाया कि आप के दोस्त अभी गली में जा रहे होंगे, ज़रा बुला लो; मगर वह न मिले और फिर उन से मुलाक़ात न हुई, न यह मालूम हुआ कि उस मुक़द्दमे में क्या हुआ। मेरा इरादा था कि उन की दावत करता। अगरचे उजलत-गर्ज़ी हो गया हूं, लेकिन बशर्त-ज़रू-

---

नदायत=लज्जा। पछतावा, शफ़कत=प्रेम। फ़र्क़ेमज़हाब=धार्मिक भेद-भाव। जां निसार=प्राण निछावर करने वाले, सहायक। अग़यार=ग़ैर, दूसरे, ऊपरी लोग। बाद-ए-खुदपरस्ती में महवोसरशार=अहंकार के मद्य से मत्त। आबदीदा=आंसू भर लाना। मोतक़िद=भरोसा रखने वाले। अज़ीज़ बावफ़ा=सच्चे प्यारे! नियाज़मन्द=प्रेमी, मित्र। उजलत गर्ज़ी=एकान्तवासी।

रत उस मुक़द्दमे की पैरवी में खुद भी कुछ तहरीक करता। निहायत नदामत हुई कि शुक्र-गुज़ारी की नौबत न आई; एक हरफ़ भी ज़बान से न निकला। वह मुसाफ़िर थे मुझ पर मेहमांदारी वाजिब थी। यह अमर तो मैं ने उन से अर्ज़ भी किया था कि आप यहां ठहरें; लेकिन उन्हों ने फ़रमाया कि मैं एक मुनासिब जगह ठहर गया हूं।

यह सारी दस्तान मैं ने इस लिए लिखी कि आप अपने दोस्त के गोश-गुज़ार कर दें; और खुद भी मुत्तला हों। आप उन से फ़रमा दीजिए कि मैं निहायत शुक्र-गुज़ार हूं; वह मुझ को अपना इखलाक़ी मदयून बना गये और मुझ को इलम भी न हुआ। ज़ोफ़े-बरसात ने आंखों पर परदा डाल दिया। मैं बहुत उज्र करता कि इस की क्या ज़रूरत है। अपनी खैरियत से मुत्तला फ़रमाइये।

आप का खैरतलब और नियाज़मन्द

अकबर हुसैन।

अकबर साहब मेल-मिलाप के बड़े प्रेमी थे, आपस के झगड़ों से उन्हें सख़्त नफ़रत थी। एक खत में लिखते हैं—

"XXXX ज़माने का रङ्ग आप देख रहे हैं। झूठी इज़्ज़त और नुक़सान-रसां लज़्ज़तों का शौक़ तबीयतों पर ग़ालिब है, नाम है मुल्की तरक्क़ियों का, लेकिन कोशिश उन बातों की हो रही है जिन से सोसाइटी टुकड़े-टुकड़े हो जाय, ज़िन्दगानी बएवज़ शीरीं होने के तलखी से कटे। बहर-कैफ़ हम को और

गोश-गुज़ार कर दें=कानों तक पहुंचा दें; सुना दें। इखलाक़ी मदयून=सदाचार के व्यवहार का ऋणी। ज़ोफ़े-बरसात=आंखों की कमज़ोरी।

आप को ख़ुदा से दुआ करना चाहिये कि हालत की इसलाह हो XXX।"

रिफ़ार्म-स्कीम पर एक ख़त में क्या अच्छा रीमार्क किया है—

"XXXआज कल वोट-ख़्वाहों ने नाक में दम कर रक्खा है। एक दोस्त से ख़्वाहमख़्वाह बेलुत्फ़ी की सूरत पैदा है। क्या "न्यू स्कीम (New scheme) ख़ुदा की रहमत है! यह महज़ फ़िक़रा है कि शुरू तरक़्क़ी में ऐसा ही होता है।"

अकबर की जीवनी

एक बार मैं ने अकबर साहब की जीवनी लिखने के लिये मसाला मांगा था। दरियाफ़्त किया था कि आप ने ख़ुद या किसी दूसरे साहब ने आप के हालात लिखे हों तो मुझे भिजवाइये या पता दीजिए। इस का जवाब आप ने लिखा था—

"XXX मुफ़स्सिल हालात व ख़यालात की तहरीर का हनूज़ इत्तफ़ाक़ नहीं हुआ। अगरचे बहुत दिनों से अहबाब की फ़रमाइश है। सेहत ख़राब है, दीगर तरद्दुदात रहते हैं, लेकिन मेरे अशआर से उन अशआर को जो तक़लीदी तौर पर—क़ाफ़िया-पैमायी के तौर पर—लिखे गये हैं, ख़ारिज कीजिए, तो वह मेरी तबीयत और ख़यालात के आईना हैं।"—

सचमुच कवि की कविता ही कवि की सच्ची जीवनी है, उस के विचारों का जीता-जागता, बोलता हुआ चित्र है, वह उस का यशःशरीर है, आत्मा का अमर प्रतिबिम्ब है। किसी स्त्री-कवि ने अपने दर्शनाभिलाषी कवि को लिखा था—

"हमचु बू पिनहा शुदम् दर-रंगे-गुल मानिन्दे-गुल।
हर के दीदन मैल दारद दरसुख़न बीनद मरा॥"

—जिस तरह फूल में उस की गन्ध छिपी रहती है, उसी तरह मैं अपनी कविता में छिपी हूं। जो मुझे देखना चाहे, वह कविता में देखे, वही मेरा असली स्वरूप है । गुल को (फूल को) छोड़कर गन्ध बाहर दिखाई नहीं दे सकती ।

अकबर साहब भी अपनी कविता में छिपे हैं । उन के स्वरूप का ज्ञान उन की कविता में ही हो सकता है । सूक्ष्मदर्शी इन संक्षिप्त संस्मरणों में भी उन के स्वरूप का स्पष्ट आभास देख सकेते हैं ।

(पद्म-पराग)

नदीमुखेनैव समुद्रमाविशेत्

(काका कालेलकर)

सुबह या शाम को जब हम नदी के तट पर जाकर शांति-पूर्वक बैठते हैं तो अनेक प्रकार के विचार उत्पन्न होते हैं। यद्यपि वहाँ बालू का विशाल पट प्रति दिन ज्यों का त्यों ही दीखता है, तथापि उस का प्रत्येक कण हवा और पानी से स्थान-भ्रष्ट होता रहता है। इतनी सब बालू कहां से आती है और जाती कहां हैं? बालू के पट पर यदि हम चलते हैं तो बालू में स्पष्ट या अस्पष्ट पाद-चिह्न उठते हैं, पर घड़ी दो घड़ी के बाद हवा के कारण उन का 'नाम-निशान' भी नहीं रहता। दोनों किनारों के बीच नदी बहती है परन्तु वह किसी समय ठहरती नहीं। पानी आता है और जाता है, आता है, और जाता है। जब हम बच्चे थे तब सोचते थे "रात को यह नदी का पानी सो जाता होगा और सवेरे सब से पहले उठकर फिर बहने लग जाता होगा। सूर्य, चन्द्र और ये नौ लाख तारे जिस प्रकार विश्राम लेने के लिए पश्चिम की ओर उतरते हैं, उसी प्रकार यह पानी भी रात में सो जाता होगा। विश्रान्ति की आवश्यकता तो सब को एक सी है।" पर बाद में देखा कि नहीं, नदी को विश्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती। वह तो बहती ही रहती है। नदी को देख कर ख़्याल होता है,—'यह आती कहाँ से है और जाती कहाँ तक है?' यह विचार—यह प्रश्न सनातन है। नदी का आदि और अन्त तो होगा ही।

जितनी बार नदी को देखते हैं उतनी ही बार यह प्रश्न मन में उठता है; और ज्यों ज्यों यह प्रश्न पुराना होता है त्यों त्यों वह अधिकाधिक गम्भीर, काव्यमय और गूढ़ बनता जाता है। अन्त में दिल नहीं मानता, पाँव नहीं रुकते, मन एकाग्र हो जाता है और पैर चलने लगते हैं। आदि और अन्त खोजने की यह सनातन स्फूर्ति हमें नदी से मिलती है, और इसी से हम जीवन-प्रवाह को भी नदी की उपमा देते आये हैं। उपनिषत्कार और देशी कवि, मॅथ्यु आर्नोल्ड जैसे कवि और रोमाँ रोलाँ जैसे उपन्यास-लेखक जीवन को नदी ही की उपमा देते हैं। इस संसार की सब से पहली पथिक नदी है। इस लिए पुराने लोगों ने नदी के उगम, संगम और मुख को अत्यन्त पवित्र माना है।

नदी कहाँ से आती है और कहाँ जाती है? शून्य से आती है और अनन्त में समा जाती है। शून्य अर्थात् अति अल्प, सूक्ष्म परन्तु प्रबल; और अनन्त अर्थात् शान्त और विशाल। शून्य और अनन्त दोनों एक से गूढ़ हैं, दोनों अमर हैं। शून्य से अनन्त की ओर—यह सनातन लीला है। दोनों एक ही हैं। जैसे कौसल्या या देवकी के प्रेम में समाने के लिये परब्रह्म ने बाल रूप धारण किया उसी तरह करुणावश अनन्त स्वयं शून्यरूप धारण कर हमारे सम्मुख खड़ा होता है। ज्यों ज्यों हमारी शक्ति बढ़ती है त्यों त्यों शून्य विकसित होता जाता है। जब अन्त में वह अपने विकास-वेग को संभाल नहीं सकता तो मर्यादा तोड़कर अनन्त हो जाता है। वह बिन्दु का सिन्धु बन जाता है।

यही दशा मानव-जीवन की है। व्यक्ति में से कुटुम्ब,

कुटुम्ब से जाति, जाति से राष्ट्र, राष्ट्र से मानवता और मानवता से आत्मौपम्य में, इस तरह हृदय की भावनाएँ विकसित होती जाती हैं। हम अपनी भाषा द्वारा स्वजनों का हृदय समझते हैं और अन्त में सम्पूर्ण विश्व का आकलन करते हैं। गावों से प्रान्त, प्रान्तों से देश, देशों से विश्व इस तरह 'स्व' का विकास करते करते 'सर्व' में लीन हो जाना ही नदी और जीवन दोनों का क्रम है। नदी स्वधर्म-रत रहती है और अपनी मर्यादा को सुरक्षित रखती है। इसी से प्रगति करती हुई अन्त में नाम और रूप का त्याग करके समुद्र में अस्त हो जाती है। स्मरण रहे अस्त होती है, नष्ट नहीं। वह चलती ही रहती है। यह नदी का क्रम है। यही क्रम जीवन का है। जीवन-प्रद शिक्षा का दूसरा कौन-सा क्रम हो सकता है?

(अनुवादक—पण्डित श्रीनिवासाचार्य द्विवेदी)

[जीवन-साहित्य, दूसरा भाग]

पुरातन तथा आधुनिक सभ्यता

(पंडित बालकृष्ण भट्ट)

पुरानी सभ्यता का उद्देश्य "Simple living and high thinking." अर्थात् साधारण जीवन और उच्च विचार था। हमारे पुराने लोग शून्य एकान्त स्थान में जन-समाज से बड़ी दूर किसी पर्वत-स्थली या पवित्र नदी के तट पर स्वच्छ जलवायु में नीवार, साग-पात या कँद-मूल, फल आदि खा कर रहते थे। बेश-कीमत दस्तरख़ान उन के लिये नहीं सजाया जाता था। पर विचार उन के ऐसे ऊँचे होते थे कि संसार की कोई ऐसी बात न बच रही, जिस पर उन्हों ने ख़याल नहीं दौड़ाया और जिस को अपने मस्तिष्क में नहीं रख लिया। इस समय की सभ्यता का जो चलन है, उस के साथ उन की सभ्यता का मुक़ाबला करने से वे लोग जंगली और असभ्य (Rude) कहे जा सकते हैं। तब के लोगों को शान्ति बहुत प्रिय थी। जो जितना ही मन को वश में कर दमन शील और शान्त रहता था, वह उतना ही अधिक सभ्य समझा जाता था। इस समय शान्त-शील बोदा समझा जाता है। मन को वश में करना तो दूर रहा, बल्कि मन को चलायमान और इन्द्रियों का अतिशय लालन करने की कितनी तदबीरें और सामग्रियाँ चल पड़ी हैं। फ्रांस में दिन में तीन बार लेडियों के फ़ैशन बदले जाते हैं। फ़ैशन जो इस समय अंतिम सीमा को पहुँच रहा है, यह सब सभ्यता ही का प्रसाद है। इस के सिवा

लोभ, ईर्ष्या, ममता इत्यादि दोष जो इन्द्रियों को दमन न करने से पैदा होते हैं, वे सब इस समय की शोभा और गुण हो रहे हैं। सारांश यह कि उस समय की सभ्यता का लक्ष्य केवल बाहरी उन्नति पर नहीं, बरन् भीतर की उन्नति पर था, जिसे आध्यात्मिक उन्नति कहते हैं। हमारी आध्यात्मिक उन्नति में बिना बाधा पड़े बाह्य भौतिक (Material) उन्नति उस समय लोगों को स्वीकृत थो। इस समय "मेटीरियल" (भौतिक) उन्नति पर ज़ोर दिया जाता है, जिस का परिणाम यह है कि हम आध्यात्मिक विषय में दिन-दिन गिरते जाते हैं।

हमारी आधुनिक सभ्यता बिलकुल रुपये पर निर्भर है। रुपया पास न हो, तो आप सकल-गुण-वरिष्ठ शिष्ट-समाज के सिरमौर होकर भी श्रद्धास्पद नहीं हो सकते। सर्वसाधारण को जब यह निश्चय हो गया कि केवल रुपया सब इज़्ज़त और प्रतिष्ठा का द्वार है, तब जैसे बने, वैसे रुपया इकट्ठा करना ही हमारा उद्देश्य हो गया और हमारी आध्यात्मिक शक्ति का ह्रास दिन-पर-दिन होने लगा। किंतु तब के लोगों में ऐसा न था। आभ्यंतरिक शक्तियों को विमल रख रुपए का लाभ होता हो, तो वह लाभ उन्हें ग्राह्य था। एक कारण इस का यह भी कहा जा सकता है कि तब देश सब ओर से रँजा-पुँजा था, धन की कमी न थी, अब इस समय मुल्क में ग़रीबी बढ़ जाने से लोगों को रुपया कमाने में यत्न (Struggle) विशेष करना पड़ता है। योरप और अमेरिका के आढ्यतम देशों में इस आधुनिक सभ्यता की पोल इस लिये नहीं खुलने पाती कि वहां कोशिश (Struggle) इतनी नहीं है। यहां सब भाँति अभाव और क्षीणता है, इस से इस वर्तमान सभ्यता की भरपूर पोल खुल रही है।

सभ्यता का देश के जल-वायु से साथ बड़ा घनिष्ठ संबंध है। किसी देश में प्राकृतिक नियमानुसार जो बात या जो बर्ताव जल-वायु के अनुकूल पड़ता है वही वहाँ की सभ्यता समझी जाती है। जैसे हमारा देश कृषि-प्रधान है, तो जो कुछ यहाँ की खेती के अनुकूल या पृथ्वी की उपज का बढ़ाने-वाला है, उस की वृद्धि या उस का पोषण इस देश की सभ्यता का एक अंग है। जैसे गो-रक्षा या गो-पालन यहाँ की सभ्यता का श्रेष्ठ अंग है। सामयिक सभ्यता में गोधन की क्षीणता महापातक-सा देश-भर को आक्रमण किये है। हमारे पूर्वज प्रकृति को छेड़ना नहीं पसंद करते थे। वरन् प्रकृति में विकृति-भाव बिना लाये सहज में जो काम हो जाता था, उसी पर चित्त देते थे। आधुनिक सभ्यता, जो विदेश से यहाँ आई है, हमारी किसी बात के अनुकूल नहीं है; किन्तु इस से प्रति-दिन हमारी क्षीणता होती जाती है। भोगविलास आधुनिक सभ्यता का प्रधान अंग है। दरिद्र का विलासी होना अपना नाश करना है। अस्तु—

जिन-दिन देखे वे कुसुम, गई सो बीत बहार।
अब अलि रही गुलाब की, अपत कटीली डार।

(साहित्य-सुमन)

शरत्

(जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी)

अहा ! वर्षा बीत गयी । शरत् समागम होते ही समस्त संसार समुज्ज्वल हुआ । अहा ! यह समय भी कैसा सुहावना है । सर्वत्र शांति का अटल राज्य है । अब नदियों की वह प्रचंड भीषण मूर्त्ति नहीं है । और न अब उन में उत्ताल तरंगे उठती हैं । अब तो वे शांत भाव से बह रही हैं । जल भी स्वच्छ साफ़ स्वादिष्ट और सुन्दर हैं । लता गुल्म बनस्पतियों की वह अश्रु-प्लावित शोकमयी गम्भीर मूर्त्ति देखने में नहीं आती और न अब प्रकृति-देवी की रोनी सूरत ही दिखलाई पड़ती है । भादों की भयानक विभावरी का भय अब नहीं है । बादलों का वह तर्जन-गर्जन—वह काली घटा की छटा और वह चंचला चपला की चमक अब नहीं है । अब सभी शांत हैं—सभी उज्ज्वल हैं और सभी मनोहर हैं । वर्षा की मलिनाम्बरा दीना अश्रुमती प्रकृति-देवी अब हास्यमयी विमलाम्बरा और विलासनी हो गई है ।

इस समय वृक्षों में फूल—लताओं में फूल—तृणों में फूल—आकाश में फूल—पृथ्वी में फूल—जल में फूल—स्थल में फूल—जहां देखो तहां फूल—यह सारा संसार ही फूलमय हो गया है। आकाश में नक्षत्र फूले हैं—पृथ्वी में प्रात:काल ओस की बूंदें फूल-सी दिखाई पड़ती हैं और जल में उडगण का प्रतिबिंब ही खिली हुई वाटिका का आनन्द दे रहा है। स्थल में कास कपाल के फूलों का अद्भुत प्रकाश छाया हुआ है। इस समय

लता कोमल, पत्ते कोमल और कोमल है वायु। कोमलता सर्वत्र व्याप्त है। केवल निराकारी लोग शुष्कप्राय हैं। वर्षा की विगत-वसना प्रकृति-भामिनी अब पुष्पाभरण स्निग्ध मधुरा मधुर कांति-मती बनी है।

पावस में अन्धकार था, वृष्टि थी, कीच थी, दुर्गन्ध थी और न जाने क्या क्या थी; परन्तु अब है प्रकाश, पुष्प और शीतल मन्द सुगन्ध समीर। अब दादुर-वक्ता नहीं है और न झिल्लियों के झनकार से कान के परदे फटते हैं। अब वियोगियों के चित्त की चिनगी उड़ाने के निमित्त बीरबहूटियाँ नहीं हैं। अब तो पक्षियों के सुन्दर मीठे कलरव से चित्त प्रफुल्लित हो उठा है। हिमकर अपने परिकरों के सहित वसुन्धरा पर अमृत-वृष्टि करता है। प्रकृति की शोभा अनिवर्चनीय है। इस परिवर्तन का कारण क्या है? नास्तिक ज़रूर कहेंगे "यह स्वाभाविक नियम है—वर्षा के बाद शरत्, शीत के बाद वसन्त और वसन्त के बाद ग्रीष्म आवेगा—इस के विपरीति हो नहीं सकता।" किंतु भक्त लोग भला इस को कब मानने लगे? वे यही कहेंगे कि प्रकृति की प्रकृति—मूल प्रकृति जगदीश्वरी जगदम्बा का धरा-धाम में आविर्भाव होगा, अत एव यह परिवर्त्तन है।

पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, दिक्, काल प्रभृति सुभूषित और सुसज्जित हैं! शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गन्ध सुपरिच्छद से सुशोभित हैं। प्रकृति-देवी आज अधीश्वरी के आगमनोल्लास में उल्लसित हो इस भूमण्डल को सुसज्जित कर रही है—स्वर्गीय परिच्छद से विभूषित कर रही है।

राजा की अवाई सुनकर प्रजागण अपनी अपनी शक्ति के अनुसार नगर, ग्राम, गृह इत्यादि को सजाती है। क्या जगदी-

श्वरी की हम प्रजा नहीं हैं? वायु, वरुण, आकाश, पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य क्या उस की प्रजा नहीं हैं? काल, दिक्, तरुलता, चराचर, क्या विश्वेश्वरी की प्रजा नहीं हैं? सभी आज महानन्द के साथ महेश्वरी के शुभागमन के निमित्त इस पवित्र भूमि को शोभापूर्ण कर रहे हैं। माता आती है, अत एव आज सभी आनन्दित हैं।

आनन्द की सीमा नहीं है। इस निरानन्द श्मशान भूमि में इस दीन हीन भारत-भूमि में भी आनन्द की धारा बह रही है। सम्प्रति पाषाण-हृदय भी आनन्द से प्लावित है। अभी बालक-बालिका, युवक-युवती, वृद्ध-वृद्धा,—सभी आनन्दित हैं। बालकों को मेले-ठेले का आनन्द,—युवक-युवतियों को प्रिय-सम्मिलन का आनन्द—वृद्ध-वृद्धाओं को प्रवासी पुत्र-पौत्रों के मुख-दर्शन का आनन्द—भक्तों को प्रतिमापूजन-दर्शन का आनन्द और अभक्तों को आमोद-प्रमोद का आनन्द है। सारांश यह है कि माता के आगमन से सब कोई आनन्दित है। अत एव मातः आनन्दमयि! जगज्जननि! शक्ति दे, सामर्थ्य दे, जिस से आनन्द का अनुभव करें। जय दुर्गे! दुर्गतिनाशिनी!

(भारतमित्र ता० ४—१०—१९०२)

(गद्यमाला)

———

परीक्षा

(पण्डित प्रतापनारायण मिश्र)

यह तीन अक्षर का शब्द ऐसा भयानक है कि त्रैलोक्य की बुरी बला इसी में भरी है । परमेश्वर न करे कि इस का सामना किसी को पड़े ! महात्मा मसीह ने अपने निज शिष्यों को एक प्रार्थना सिखाई थी, जिस को आज भी सब क्रिस्तान पढ़ते हैं, उस में एक यह भी भाव है कि "हमें परीक्षा में न डाल, वरंच बुराई से बचा ।" परमेश्वर करे सब की मुँदी भलमंसी चली जाय, नहीं तो उत्तम से उत्तम सोना भी जब परीक्षार्थ अग्नि पर रक्खा जाता है तो पहले कांप उठता है, फिर उस के यावत् परमाणु, सब छितर-बितर हो जाते हैं । यदि कहीं कुछ खोट हुई तो जल ही जाता है, घट जाता है । जब जड़ पदार्थों की यह दशा है तब चैतन्यों का क्या कहना है । हमारे पाठकों में कदाचित् ऐसा कोई न होगा जिस ने बाल्यावस्था में कहीं पढ़ा न हो । महाशय उन दिनों का स्मरण कीजिए, जब इम्तहान के थोड़े दिन रह जाते थे । क्या सोते जागते, उठते बैठते हर घड़ी एक चिन्ता चित्त पर न चढ़ी रहती थी । पहले से अधिक परिश्रम करते थे तो भी दिन-रात देवी-देवता मनाते बीतता था । देखिये, क्या हो, परमेश्वर कुशल करे । सच है, यह अवसर ही ऐसा है । परीक्षा में ठीक उतरना हर किसी के भाग्य में नहीं है ।

जिन्हें हम आज बड़ा पण्डित, बड़ा धनी, बड़ा बली, महा देश-

हितैषी, महा सत्यसंध, महा निष्कपट मित्र समझे बैठे हैं, यदि उन की ठीक-ठीक परीक्षा करने लगें तो कदाचित् फ़ी सैकड़ा दो ही चार ऐसे निकलें जो सचमुच जैसे बनते हैं वैसे ही बने रहें ? वेश्याओं के यहां यदि दो चार मास आप की बैठक रही हो तो देखा होगा, कैसे कैसे प्रतिष्ठित, कैसे कैसे सभ्य, कैसे कैसे धर्मध्वजी वहां जाकर क्या क्या लीला करते हैं ! यदि महाजनों से कभी काम पड़ा हो तो आप को निश्चय होगा कि प्रकट में जो धर्म, जो ईमानदारी, जो भलमंसी दीख पड़ती है वह गुप्तरूपेण कै जनों में कहाँ तक है ! जिन्हें यह विश्वास हो कि ईश्वर हमारे कामों की परीक्षा करता है, अथवा संसार में हमें परीक्षार्थ भेजा है उन के अन्तःकरण की गति पर हमें दया आती है। हम ने तो निश्चय कर लिया है कि परीक्षा-वरीक्षा का क्या काम है, हम जो कुछ हैं उस सर्वज्ञ सर्वांतर्यामी से छिपा नहीं है। हम पापात्मा, पाप-संभव, भला उस के आगे परीक्षा में कै पल ठहरेंगे ?

संसार में संसारी जीव निस्सन्देह एक दूसरे की परीक्षा न करें तो काम न चले, पर उस काम के चलने में कठिनाई यह है कि मनुष्य की बुद्धि अल्प है, अतः प्रत्येक विषय का पूर्ण निश्चय संभव नहीं। न्याय यदि कोई वस्तु है, और यह बात यदि निस्सन्देह सत्य है कि निर्दोष अकेला ईश्वर है तो हम यह भी कह सकते हैं कि जिस की परीक्षा १०० बार कर लीजिए उस की ओर से भी सन्देह बना रहना कुछ आश्चर्य नहीं है ! फिर इस बात को कौन कहेगा कि परीक्षा उलझन का विषय नहीं है। कपटी ही लोग बहुधा मिष्टभाषी और शिष्टाचारी होते हैं, थोड़े ही मूल्य की धातु में अधिक

ठनठनाहट होती है, थोड़ी ही योग्यता में अधिक आडम्बर होता है, फिर यदि परीक्षक धोखा खा जाय तो क्या अचंभा है। सब गुणों में पूरा अकेला परमात्मा है। अतः ठीक परीक्षा पर जिस की कलई न खुल जाय उसी के धन्य भाग! हम ने भी स्वयं अनुभव किया है कि बरसों जिन के साथ बदनाम रहे, बीसियों हानियां सहीं, कई बार अपना सिर फुड़वाने को और प्राण देने या कारागार जाने को उद्यत हो गए, उन के दोष अपने ऊपर ले लिए, और वे भी सदा हमारी बात बात पर अपना चुल्लू भर लोहू सुखाते रहे, सदा कहते रहे, जहां तेरा पसीना गिरेगा वहां हमारा मृत शरीर पहले गिर लेगा, पर जब समय आया, कि ग़ैरों के सामने हमारी इज्ज़त न रहे, तो उन्हीं महाशयों ने कटी उंगली पर न मूता।

यदि कोई कहे कि तुम कौन बड़े बुद्धिमान हो जो तुम्हारे तजरबे (अनुभव) पर हम निश्चय कर लें, तो हम मान लेंगे, पर यह कहने का हमें ठौर बना है कि मुद्दत तक राजा शिवप्रसाद जी को सहस्रों ने क्या समझा, और अन्त में क्या निकले! सैयद-अहमद साहब को पहले बहुतेरों ने निश्चय किया कि देशमात्र के हितैषी हैं, पीछे से यह खुला कि केवल निज सहधर्मियों के शुभ-चिन्तक हैं। यह भी अच्छा था; पर नैशनल कांग्रेस में यह सिद्ध हो गया कि "योसि सोसि तव चरणं नमामि।" "हिन्दी-प्रदीप" से ज्ञात हुआ कि दिहाती भाई भी सैयद बाबा पर मधुर बानी की शीरीनी चढ़ाते हैं। हम भी मानते हैं कि कांग्रेस अभी तीन बरस की बच्ची है, उस पर रक्षा का हाथ रखना ही उन्हें योग्य है, क्योंकि यह हिन्दू-मुसलमान दोनों की हितैषिणी है, ऐसे ऐसे बहुत से दृष्टान्त, अनुमान है कि, सभी को

मिला करते होंगे, जिन से सिद्ध है कि परीक्षा का नाम बुरा !

कहाँ तक कहें, परीक्षा सब को खलती है ! क्या ही अच्छा होता जो सब से सब बातों में सच्चे होते, और जगत् में परीक्षा का काम न पड़ा करता ! वह बड़भागी धन्य है जो अपना भरमाला लिए हुए जीवन-यात्रा को समाप्त कर दे।

[निबन्ध-नवनीत]

कुरूपता

(श्याम सुन्दरदास, बी० ए०)

सौंदर्य की उपासना करना उचित है सही पर क्या उसी के साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निंद्य है ? नहीं, सौंदर्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुन्दर पदार्थ अपनी सुन्दरता पर चाहे जितना मान करे किंतु असुन्दर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुन्दर कहलाता है। अंधों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है।

कुरूपता के पक्ष में कुछ और भी कहा जा सकता है। रूपहीन वस्तु ही रूपवान वस्तु का आधार-भूत और पालक-पोषक है। कीचड़ से ही कमल की स्थिति है। गुलाब भी कँटीले वृक्ष में उगता है। मोती सीप से पैदा होता है। रत्न क्षार-समुद्र से निकलता है। मणि खानि से निकलती है। गज-मौक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलता है। कीट से रेशम उपजता है। शून्य नीलाम्बर में चन्द्रोदय होता है। दुरूह पर्वतों के अन्धकारमय गह्वरों में भाँति-भाँति की जड़ी-बूटियां विद्यमान रहती हैं। बड़े बड़े बीहड़ जँगलों में सहज सलोने मृगछौने रहते हैं। इसी प्रकार पुष्पों का प्रादुर्भाव वृक्षों से और सघन सुन्दर पल्लवों से सुशोभित शाखाओं की स्थिति रूखी और मोटी मोटी जड़ से है। मनुष्य की स्थिति वनस्पतियों पर और हरी भरी लहलहाती वनस्पतियों की स्थिति जल, वायु और मिट्टी के ढेलों पर निर्भर है। भूसी निकल जाने पर चावलों

में से अंकुरित होने की शक्ति जाती रहती है।

आप के सुन्दर वस्त्र, जिन से आप की सुन्दरता बनी हुई है, कहां से आए? वे मिट्टी के ढेले, जिन से कपास की उत्पत्ति हुई, क्या बड़े रूपवान थे? वह बेचारा श्रमसहिष्णु कृषक, जिस ने दिन-रात परिश्रम करके कपास के खेत को उपजाऊ और हरा-भरा बनाया, क्या वह भी आप ही की भाँति कोमल और सुकुमार था? क्या वह लोहे की चर्ख़ी (मशीन), जिस में कपास साफ़ की गई थी और जिस के द्वारा कपास सूत में परिणत होकर सुन्दर वस्त्र रचने के योग्य हुई, काले काले कोलों के ढ़ेर से नहीं चलाई गई थी? 'मिल' में काम करने वाले लोग भी सब के सब आप ही की भाँति सुकुमार और सुभग सुवेश वाले न होंगे। किंतु यदि ये सब कुरूप पदार्थ न होते तो आप के सौंदर्य्य की वृद्धि करने वाले ये सब पदार्थ कहाँ से सुलभ हो पाते?

सत्ता-सागर में दोनों ही की स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बंधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों?

रूप-हीन वस्तु से तभी तक घृणा है जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए हुए बैठे हैं। सुन्दर वस्तु को भी हम इसी कारण से सुन्दर कहते हैं कि उस में हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं।

आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य-पूर्ण हो जाने पर सुन्दर और असुन्दर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान नहीं कहती। इस का यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने-आप को ही देखती है। जब हम

सारे संसार में अपने ही आप को देखेंगे तब हम को कुरूपवान भी रूपवान दिखाई देगा। यदि ऐसा न भी हो तो कोई विस्मय नहीं पर रूपहीन वस्तु से घृणा तो अवश्य ही जाती रहेगी। मानव-शरीर के ही अङ्ग प्रत्यङ्ग एक ही समान सभी सुन्दर नहीं होते।

रूपहीन पदार्थ निरादर का विषय नहीं—तिरस्कार का पात्र नहीं। वह भी उसी सुविशाल सत्तासागर का एक कण है, जिस का सुन्दर पदार्थ। सुरूपवानों का उदय भी कुरूपवान पदार्थों से ही होता है। मिट्टी और खाद के कण सुन्दर सुरभित सुमनों में परिणत होते रहते हैं। अतिशय कर्कश, टेढ़े और ऊबड़ पत्थरों से ही मनोमुग्धकारिणी हृदयग्राहिणी दृष्टि उन्मेषिणी मूर्तियां रची जाती हैं। जो आज कुरूपवान वस्तु है वही कल सुरूपवान बन जावेगी।

फिर निराशा क्यों?

[मनोरंजन पुस्तकमाला, दूसरा भाग]

———

हम क्या करें?

(जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी)

आप ही कहिए अब हम क्या करें ? सोचा था क्या और हो गया क्या ! इसी से चित्त चिन्ता के चक्र पर चढ़कर चक्कर काट रहा है। विचार लाचार होकर हरिद्वार की ओर भाग रहा है। बुद्धि भी विमुख होकर बरम्युडाज द्वीप की तरफ़ यात्रा करने को तय्यार बैठी है। बाकी रहा ज्ञान, सो भी आसमान की तरफ़ ध्यान लगाए बैठा है। ऐसी अवस्था में आप ही बताइए हम क्या करें ?

जिस समय हम पाठशाला में पढ़ते थे न जाने कितने भाव हमारे चित्त में उठते थे। उस समय हिन्दुस्तान के बड़े लाट का पद पाना भी हम सहज समझते थे। कभी सोचते थे कि कलकत्ता विश्वविद्यालय के ग्रेजुयेट होंगे और फिर रायचन्द प्रेमचन्द परीक्षा में उत्तीर्ण होकर विपुल पारितो-षिक पावेंगे। कभी सोचते थे कि विलायत जाकर सिविल सरविस का इमतिहान देंगे और उस में पास हो गए तो पौ बारह है और यदि फ़ेल हो गए तो बैरिस्टरी तो अवश्य ही पास करेंगे। फिर हिंदुस्तान लौट कर आवेंगे। अभ्यर्थना के लिए बन्धु-बान्धव इष्ट-मित्र लोग स्टेशन पर आवेंगे। हम सब से शेकहैण्ड करेंगे। हम किसी डाक बंगले में जाकर उतरेंगे, क्योंकि लण्डन-निवास से हम स्वच्छ सभ्य हो जाते, फिर काले असभ्यों के साथ कौन ठहरता। पर हाय वह सब बातें

मन की मन ही में रहीं। इसी से कहते हैं कि अब हम क्या करें?

कभी यही मनसूबा बांधते थे कि विलायत-सिलायत नहीं जाँयगे। यहीं एफ० ए० पास कर डाक्टरी पढ़ेंगे और डिपलोमा पाने की उतनी कुछ परवाह न करेंगे। क्योंकि बिना पास किए हुए डाक्टर ही आज कल तिल्ली-बिल्ली की दवा बेच कर लाखपती हो गए हैं। वैसे ही हम भी कुछ करेंगे। और अगर दैवयोग से पास हो ही जाँयगे तो "डिपलोमा-प्राप्त" अपने को लिखकर और भी हाथ मारेंगे। पर विधिविडम्बना से वह सब हमारी कामनाएँ पूरी ही नहीं हुईं; अतएव अब हम क्या करें?

कभी कभी मन में यह तरङ्ग उठती थी कि और कुछ नहीं केवल बी० ए० पास कर अपने नाम के पीछे बी० ए० लिखना शुरू करेंगे। बस डर के मारे कोई मेरी पुस्तकों की अथवा मेरे सम्पादित समीचीन संवादपत्रों की शिकायत न करेगा और काशी की 'नागरी प्रचारिणी सभा' के सैक्रेटरी सदैव के लिये हो जाँयगे। और कभी यह सोचते थे कि यह सब कुछ नहीं तो किसी आंख के अन्धे गाँठ के पूरे साहूकार के मुनीम हो जायँगे पीछे परमात्मा की कृपा से अनायास ही धनी बन जायँगे। कहाँ तक कहें बहुतेरे भाव मन में उठते थे और उस समय सब बातें ही सहज मालूम होती थीं। हमारे ही चित्त में यह सब लहरें नहीं उठती थीं हमारे माता पिता बन्धु-बान्धव इष्ट-मित्र भी यही सब सपने देखते थे।

जिस समय हम ने मिडिल वर्नाकुलर पास कर ४) रुपये मासिक छात्र-वृत्ति पायी थी उस समय के आनन्द का हम क्या वर्णन करें। सब कोई यही कहते थे कि लड़का होनहार है। यह ज़रूर हाईकोर्ट का जज होगा। हम भी कुछ ऐसा ही सपना

उस समय देखते थे । इस के बाद ऐण्ट्रेन्स पास किया । अब तो हम आनन्द के मारे फूल कर कुप्पा हो गए । हम ने समझ लिया था कि अब अर्शमुअल्ले पर पहुँचने में थोड़ी ही कसर है, पर संसार-चक्र के फेर से हमारी सब कामनाओं पर, हमारी सब अभिलाषाओं पर पाला पड़ गया । अत एव पाठको कहिए हम अब क्या करें ?

जो कुछ हम ने सोचा था सो कुछ भी नहीं हुआ । न बारिस्टर हुए, न वकील हुए, न डाक्टर हुए और न मुनीम जी ही हुए । ऐडीटरी करने के लिये तय्यार हुए तो इस में भी सीक्रेट एक्ट ने आकर एक अड़ङ्गा लगा दिया है । अब हम क्या करें सो कुछ समझ में नहीं आता है । दाढ़ी बढ़ाकर अगर स्वामी बन जायँ तो भी गुज़रा नहीं है । समस्या बड़ी टेढ़ी है, इसी से पूछते हैं, पाठक-गण ! बताइए, हम अब क्या करें ?

राम भज राम ।

(हितवार्त्ता ता० २७ सितम्बर सन् १९०३ ई०)

[गद्यमाला]

होली है !

(पण्डित प्रतापनारायण मिश्र)

तुम्हारा सिर है । यहाँ दरिद्र की आग के मारे होला (अथवा होरा भुना हुआ हरा चना) हो रहे हैं इन्हें होली है, हें !

अरे कैसे मनहूस हो? बरस बरस का तिवहार है, उस में भी वही रोनी सूरत ! एक बार तो प्रसन्न होकर बोलो, होरी है !

अरे भाई हम पुराने समय के बंगाली भी तो नहीं हैं कि तुम ऐसे मित्रों की ज़बरदस्ती से होरी (हरी) बोल के शान्त हो जाते । हम तो बीसवीं शताब्दी के अभागे हिन्दुस्तानी हैं, जिन्हें कृषि, वाणिज्य, शिल्प, सेवादि किसी में भी कुछ तंत नहीं है । खेतों की उपज अतिवृष्टि, अनावृष्टि, जंगलों का कट जाना, रेलों और नहरों की वृद्धि इत्यादि ने मट्टी करदी है। जो कुछ उपजता भी है वह कट के खलियान में नहीं आने पाता, ऊपर ही ऊपर लद जाता है! रोज़गार-व्यौहार में कहीं कुछ देख ही नहीं पड़ता । जिन बाज़ारों में, अभी दस वर्ष भी नहीं हुए, कंचन बरसता था वहां अब दूकानें भाँय भाँय होती हैं । देशी कारीगरी को देश ही वाले नहीं पूछते । विशेषतः जो छाती ठोक ठोक ताली बजवा बजवा काग़ज़ों के तख़्ते रंग रंग कर देश हित के गीत गाते फिरते हैं वह और भी देशी वस्तु का व्यवहार करना अपनी शान से बईद समझते हैं । नौकरी बी० ए०, एम० ए०,

पास करने वालों को भी उचित रूप में मुशकिल से मिलती है। ऐसी दशा में हमें होली सूझती है कि दिवाली!

यह ठीक है। पर यह भी तो सोचो कि हम तुम वंशज किन के हो? उन्हीं के न, जो किसी समय बसंत-पंचमी ही से—

"आई माघ की पांचैं बूढ़ी डोकरियां नाचैं"

का उदाहरण बन जाते थे, पर जब इतनी सामर्थ्य न रही तब शिवरात्रि से होलिकोत्सव का आरंभ करने लगे। जब इस का भी निर्वाह कठिन हुआ तब फागुन सुदी अष्टमी से—

"होरी मध्ये आठ दिन, व्याह मांह दिन चार।
शठ, पण्डित, वेश्या बधू, सबै भये इकसार॥

का नमूना दिखलाने लगे। पर उन्हीं आनंदमय पुरुषों के वंश में होकर तुम ऐसे महर्रमी बने जाते हो कि आज तिवहार के दिन भी आनन्दवदन से होली का शब्द तक उच्चारण नहीं करते। सच कहो, कहीं होली बाइबिल की हवा लगने से हिन्दूपन को सलीब पर तो नहीं चढ़ा दिया?

तुम्हें आज क्या सूझी है, जो अपने पराए सभी पर मुंह चला रहे हो? होली बइबिल अन्य धर्म का ग्रन्थ है, उस के मानने वाले बिचारे पहले ही से तुम्हारे साथ का भीतरी-बाहिरी सम्बन्ध छोड़ देते हैं। पहिली उमंग में कुछ दिन तुम्हारे मत पर कुछ चोट चला भी दिया करते थे, पर अब बरसों से वह चर्चा भी न होने के बराबर हो गई है। फिर, उन छुटे हुये भाइयों पर क्यों बौछार करते हो? ऐसी ही लड़ास लगी हो तो उन से जा भिड़ो जो अभी तुम्हारे ही कहलाते हैं, तुम्हारे ही साथ रोटी-बेटी का व्यौहार रखते हैं, तुम्हारे हैं, तुम्हारे ही दो चार मान्य ग्रन्थों के मानने वाले बनते हैं, पर तुम्हारे ही देवता

पितर इत्यादि की निन्दा कर कर के तुम्हें चिढ़ाने ही में अपना धर्म और अपने देश की उन्नति समझते हैं।

अरे राम राम! पर्व के दिन कौन चरचा चलाते हो! हम तो जानते थे तुम्ही मनहूस हो, पर तुम्हारे पास बैठे सो भी नसूढ़िया हो जाय। अरे बाबा दुनिया भर का बोझा परमेश्वर ने तुम्हीं को नहीं लदा दिया। यह कारखाने हैं, भले-बुरे लोग और दुःख-सुख की दशा होती ही हुवाती रहती है। पर मनुष्य को चाहिए कि जब जैसे पुरुष और समय का सामना आ पड़े तब तैसा बन जाय। मन को किसी झगड़े में फंसने न दे।

आज तुम सचमुच कहीं से भांग खा के आए हो। इसी से ऐसी बेसिर-पैर की हांक रहे हो। अभी कल तक प्रेम सिद्धान्त के अनुसार यह सिद्ध करते थे कि मन का किसी ओर लगा रहना ही कल्याण का कारण है, और इस समय कह रहे हो कि 'मन को किसी झगड़े में फंसने न दे।' वाह! भला तुम्हारी किस बात को मानें?

हमारी बात मानने का मन करो तो कुछ हो ही न जाओ! यही तो तुम से नहीं होता। तुम तो जानते हो कि हम चोरी-चहारी सिखावेंगे।

नहीं यह तो नहीं जानते। और जानते भी हों तो बुरा न मानते। क्यों कि जिस काल में देश का अधिकांश निर्धन, निर्बल निरुपाय हो रहा है, उस में यदि कुछ लोग "बुभुक्षितः किं न करोति पापं" का उदाहरण बन जायँ तो कोई आश्चर्य नहीं है। पर हाँ यह तो कहेंगे कि तुम्हारी बातें कभी कभी समझ में नहीं आतीं। इस से मानने को जी नहीं चाहता।

यह ठीक है, पर याद रक्खो कि हमारी बातें मानने का

मानस करोगे तो समझ में भी आने लगेंगी, और प्रत्यक्ष फल भी देंगी।

अच्छा साहब मानते हैं, पर यह तो बतलाइये जब हम मानने के योग्य ही नहीं हैं तो कैसे मान सकते हैं ?

छिः क्या समझ है ! अरे बाबा ! हमारी बातें मानने में योग्य होना और सकना आवश्यक नहीं है । जो बातें हमारे मुंह से निकलती हैं वह वास्तव में हमारी नहीं हैं, और उन के मानने की योग्यता और शक्ति हम को तुम को क्या किसी को भी तीन लोक और तीन काल में नहीं है । पर इसमें भी सन्देह न करना कि जो कोई चुपचाप आंखें मीच के मान लेता है वह परमानन्द-भागी हो जाता हैं ।

हिहि ! ऐसी बातें मानने तो को कौन आता है, पर सुनकर परमानन्द तो नहीं, हां, मसख़रेपन का कुछ मज़ा ज़रूर पा जाता है ।

भला हमारी बातों में तुम्हारे मुंह से हिहि तो निकली ! इस तोबड़ा-से लटके हुए मुंह के टांकों के समान दो तीन दांत तो निकले । और नहीं तो, मसख़रेपन ही का सही, मज़ा तो आया । देखो आंखें मट्टी के तेल की रोशनी और कुलिहया के ऐनक की चमक से चौंधिया न गई हों तो देखो ! छत्तिसौ जात ; वरंच अजात के जूठे गिलास की मदिरा तथा भच्छ अभच्छ की गन्ध से अकिल भाग न गई हो तो समझो । हमारी बातें सुनने में इतना फल पाया है तो मानने में न जाने क्या प्राप्त हो जायगा । इसी से कहते हैं, भैया मान जाव, राजा मान जाव, मुन्ना मान जावो । आज मन मार कर बैठे रहने का दिन नहीं है । पुरखों के प्राचीन सुख-सम्पत्ति को स्मरण करने का

दिन है। इस से हंसो, बोलो गाओ बजाओ, त्यौहार मनाओ, और सब से कहते फिरो—होली है।

हो तो ली ही है। नहीं तो अब रही क्या गया है।

खैर, जो कुछ रह गया है उसी के रखने का यत्न करो, पर अपने ढङ्ग से, न कि विदेशी ढङ्ग से। स्मरण रक्खो कि जब तक उत्साह के साथ अपनी ही रीति-नीति का अनुसरण न करोगे तब तक कुछ न होगा। अपनी बातों को बुरी दृष्टि से देखना पागलपन है। रोना निस्साहसों का काम है। अपनी भलाई अपने हाथ से हो सकती है। मांगने पर कोई नित्य डबल-रोटी का टुकड़ा भी न देगा। इस से अपनपना मत छोड़ो। कहना मान जाव। आज होली है।

हां, हमारा हृदय तो दुर्दैव के बाणों से पूर्णतया होली (होल अंग्रेजी में छेद को कहते हैं, उस से युक्त) है। हमें तुम्हारी सी ज़िन्दा-दिली (सहृदयता) कहां से सूझे ?

तो सहृदयता के बिना कुछ आप कर भी नहीं सकते, यदि कुछ रोए पीटे दैवयोग से कुछ हो भी जायगा तो "नकटा जिया बुरे हवाल" का लेखा होगा। इस से हृदय में होल (छेद) हैं तो उन पर साहस की पट्टी चढ़ाओ। मृतक की भांति पड़े पड़े कांखने से कुछ न होगा। आज उछलने ही कूदने का दिन है। सामर्थ्य न हो तो चलो किसी हौली (मद्यालय) से थोड़ी सी पिला लावें, जिस में कुछ देर के लिये होली के काम के हो जाओ, यह नेस्ती काम की नहीं।

वाह तो क्या मदिरा पिलाया चाहते हो ?

यह कलयुग है। बड़े बड़े वाजपेयी पीते हैं। पीछे से बल, बुद्धि, धर्म, धन, मान, प्रान सब स्वाहा हो जाय तो बला से !

पर थोड़ी देर उस की तरङ्ग में "हाथी मच्छर, सूरज जुगनु" दिखाई देता है। इस से, और मनोविनोद के अभाव में, उस के सेवकों के लिए कभी कभी उस का सेवन कर लेना इतना बुरा नहीं है जितना मृत-चित्त बन बैठना। सुनिए ! संगीत, साहित्य, सुरा और सौंदर्य के साथ यदि नियम-विरूद्ध बर्ताव न किया जाय तो मन की प्रसन्नता और एकाग्रता कुछ न कुछ लाभ अवश्य होता है, और सहृदयता की प्राप्ति के लिए इन दो गुणों की आवश्यकता है, जिन के बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है।

बलिहारी है, महाराज इस क्षणिक बुद्धि की। अभी तो कहते थे कि मन को किसी झगड़े में फंसने न देना चाहिए, और अभी कहने लगे कि मन की एकाग्रता के बिना सहृदयता तथा सहृदयता के बिना जीवन की सार्थकता दुःसाध्य है ! धन्य हैं, यह सरगापत्ताली बातें ! भला हम आप को अनुरागी समझें या विरागी ?

अरे हम तो जो हैं वहीं हैं, तुम्हें जो समझना हो समझ लो। हमारी कुछ हानि नहीं है। पर यह सुन रक्खो, सीख रक्खो, समझ रक्खो कि अनुराग और विराग वास्तव में एक ही हैं। जब तक एक ओर अचल अनुराग न होगा तब तक जगत् के खटराग में विराग नहीं हो सकता, और जब तक सब ओर से आंतरिक विराग न हो जाय तब तक अनुराग का निर्वाह सहज नहीं है। इसी से कहते हैं कि हमारी बातें चुपचाप मान ही लिया करो, बहुत अकिल को दौड़ा दौड़ा के थकाया न करो। इसी में आनन्द भी आता है और हृदय का कपाट भी खुल जाता है। साधारण बुद्धि वाले लोग भगवान् भूतनाथ श्मसान-बिहारी, मुण्डमालाधारी को वैराग्य का

अधिष्ठाता समझते हैं, पर वह आठों पहर अपनी प्यारी पर्वत-राजनन्दिनी को वामांग ही में धारण किये रहते हैं और प्रेम-शास्त्र के आचार्य हैं। इसी प्रकार भगवान् कृष्णचन्द्र को लोग शृङ्गार रस का देवता समझते हैं, पर उन की निर्लिप्तता गीता में देखनी चाहिये, जिसे सुना के उन्हों ने अर्जुन का मोह-जाल छुड़ा के वर्तमान कर्तव्य के लिये ऐसा दृढ़ कर दिया था कि उन्हों ने सब की दया-मया, मोह-ममता को तिलाञ्जलि देके मारकाट आरम्भ कर दी थी। इन बातों से तत्त्व-ग्राहिणी समझ भली भाँति समझ सकती है कि भगवान् प्रेमदेव की अनन्त महिमा है। वहाँ अनुराग-विराग, सुख-दुःख, मुक्ति-साधन सब एक ही हैं। इसी से सच्चे समझदार संसार में रह कर सब कुछ देखते सुनते, करते धरते हुए भी संसारी नहीं होते। केवल अपनी मर्यादा में बने रहते हैं, और अपनी मर्यादा वही है जिसे सनातन से समस्त पूर्व-पुरुष रक्षित रखते आए हैं, और उन के सुपुत्र सदा मानते रहेंगे। काल, कर्म, ईश्वर अनुकूल हो वा प्रतिकूल, सारा संसार स्तुति करे वा निन्दा, बाह्य दृष्टि से लाभ देख पड़े वा हानि, पर वीर पुरुष वही है, जो कभी कहीं किसी दशा में अपनेपन से स्वप्न में भी विमुख न हो। इस मूल-मन्त्र को भूल के भी न भूले कि जो हमारा है वही हमारा है। उसी से हमारी शोभा है, और उसी में हमारा वास्तविक कल्याण है।

एतदनुसार आज हमारी होली है। चित्त शुद्ध कर के वर्ष-भर की कही सुनी क्षमा कर के, हाथ जोड़ के, पांव पड़ के, मित्रों को मना के, बाहें पसार के उन से मिलने और यथासामर्थ्य जी खोल के परस्पर की प्रसन्नता सम्पादन करने का दिन है।

जो लोग प्रेम का तत्त्व तनिक भी नहीं समझते केवल स्वार्थ-साधन ही को इतिकर्तव्य समझते हैं, पर हैं अपने ही देश जाति के, उन से घृणा न करके ऊपरी आमोद-प्रमोद में मिला के समयान्तर में मित्रता का अधिकारी बनाने की चेष्टा करने का त्यौहार है। जो निष्प्रयोजन हमारी बात बात पर भुकरते ही हों उन्हें उन के भाग्य के अधीन छोड़ के अपनी मौज में मस्त रहने का समय है। इसी से कहते हैं, नई बहू की नांई घर में न घुसे रहो, पर्व के दिन मन मार के न बैठो, घर बाहर, हेती व्यौहारी से मानसिक आनन्द के साथ कहते फिरो—हो ओ ओ ओ ली ई ई ई है।

[निबन्ध-नवनीत]

———

मक्खियों से हानि

(श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी)

साधारण आदमियों की दृष्टि और तत्त्वदर्शी विद्वानों की दृष्टि में बड़ा अन्तर है। साधारण जन अनेक विषयों को तुच्छ समझ कर छोड़ देते हैं—उन के सम्बन्ध में अधिक बातें जानने की चेष्टा ही नहीं करते। परन्तु तत्त्वदर्शी विद्वान् उन्हीं सामान्य विषयों की आलोचना कर के कितने ही गूढ़ रहस्यों का पता लगाते हैं। फल-फूलों का पृथ्वी पर गिरना एक साधारण बात है। हम लोगों ने संख्यातीत बार फल टपकते देखा होगा और उसे मामूली बात समझ कर छोड़ दिया होगा। परन्तु सर आइज़क न्यूटन ने एक सेब को ज़मीन पर गिरते देख कर पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति का पता लगा लिया। ब्रुनेल ने छोटे छोटे कीड़ों को लकड़ी में सूराख करते देख कर टेम्स नदी का पुल बनाया, जो पृथ्वी के आश्चर्य-कारक पदार्थों में गिना जाता है। रेल, तार, बिजली की रोशनी आदि बुद्धि को चक्कर में डालने वाली कितनी ही चीज़ें विद्वानों ने इसी तरह ईजाद की हैं।

इस समय संक्रामक रोगों की प्रबलता है। अतएव अनेक विद्वान् इस बात का पता लगाने की चेष्टा कर रहे हैं कि किन किन जन्तुओं के संसर्ग से संक्रामक रोग फैलते हैं। चूहे, बिल्ली आदि घरेलू जीवों के द्वारा ऐसे रोगों के फैलने की बात तो यह कुछ दिन पहले ही सिद्ध हो चुकी थी। अब अमेरिका के एक विद्वान् ने मक्खियों को भी रोग फैलाने वाला साबित किया है।

अब तक लोग मक्खियों को हानिकारक न समझते थे। कितने ही कवियों ने मक्खी के भोलेपन के विषय में कवितायें तक लिखी हैं। परन्तु एन० ए० कॉब नामक एक अमेरिकन विद्वान् ने बहुत विचार और परीक्षा से यह साबित किया है कि मक्खियों से जन-समाज को बहुत हानि पहुँच सकती है।

कॉब साहब का कथन है कि मक्खियाँ बहुत तेज़ी के साथ एक जगह से दूसरी जगह जा सकती हैं। यह बात कई तरह से प्रमाणित होती है। जब कोई जहाज़ बन्दर पर पहुँचता है, तब बहुत दूर तक फैले हुए पानी को लाँघ कर मक्खियाँ उस पर आ जाती हैं। उस समय जहाज़ का ज़मीन से कोई लगाव नहीं रहता। मक्खियाँ वहाँ उड़ कर ही पहुँचती हैं। बहुधा यह भी देखा जाता है कि मक्खियाँ बहुत दूर तक चौपायों का पीछा करती हैं। मक्खियों के पङ्ख चिड़ियों के डैनों से यथापरिमाण भारी होते हैं। इस से मक्खियाँ जल्द नहीं थकतीं। यदि किसी कमरे में मक्खी को आप देर तक बराबर उड़ाते रहिए तो भी वह नहीं थकेगी और न घबड़ायेगी।

बहुत से रोगों की उत्पत्ति छोटे छोटे अदृश्य कीटाणुओं से होती है। ये कीटाणु जीव-जन्तुओं के द्वारा एक जगह से दूसरी जगह पहुँच जाते हैं। और मक्खियों की यह आदत है कि वे भली बुरी सभी जगह जाती हैं। रोगी तथा नीरोग सब तरह के आदमियों पर बैठती हैं। इस से यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि मक्खियों के द्वारा रोग उत्पन्न करने वाले कीटाणुओं के प्रसार में बहुत सहायता मिलती है।

इस अनुमान की सहायता की परीक्षा भी की गई है। परीक्षा से ऐसा भयंकर परिणाम देखने में आया है कि कॉब

साहब ने उसे प्रकाशित करने का भी साहस नहीं किया। वे कहते हैं कि अपनी परीक्षा का ऐसा भयंकर फल देख कर मुझे खुद ही सन्देह होता है कि जांच करने में किसी तरह की ग़लती ज़रूर हुई होगी। इसी से मैं उसे अभी प्रकट नहीं करना चाहता।

मक्खियों की बनावट विलक्षण होती है। उन के प्रत्येक पैर में दो दो पंजे और हलके रंग की दो दो गद्दियां होती हैं। खुरखुरी चीज़ों पर मक्खियां पंजे के बल बैठती हैं और चिकनी चीज़ों पर पंजे और गद्दियां दोनों के बल। इन गद्दियों पर हज़ारों छोटे छोटे बाल होते हैं। बालों के सिरे चिपचिपे होते हैं। जब मक्खी किसी रोगी के शरीर पर बैठती है, तब रोग के कीटाणु इन्हीं बालों के सिरे में चिपक जाते हैं। फिर दूसरी जगह जाकर जब वह अपने पैर फैलाती या झाड़ती हैं, तब वे सब वहां गिर पड़ते हैं। मक्खियों के पैर चिपचिपे होते हैं। इस से उन्हें बार बार उसे साफ़ करना पड़ता है, पैरों में अधिक कीचड़ लग जाने से जैसे मनुष्यों को चलने में तकलीफ़ होती है और कीचड़ साफ़ करना पड़ता है, वैसे ही मक्खियों को अपने पैर साफ़ करने पड़ते हैं। यदि वे ऐसा न करें तो उन्हें चिकनी चीज़ों पर बैठने में बड़ी दिक़्क़त हो।

मक्खी का सिर, विशेष कर के उस का मुंह, बड़ा ही विलक्षण होता है। उस के सिर के बढ़ाये हुए चित्र को देख कर डर सा लगता है। कॉब साहब ने परीक्षा कर के देखा कि जब कभी मक्खियां किसी सड़ी-गली चीज़ पर या किसी रोगी के बदन पर बैठती जाती हैं, तब अनेकानेक कीटाणु उन के पैरों में चिपक जाते हैं और वे उन्हें दूसरी जगह पहुंचा देती हैं।

मक्खियों का यह कार्य मनुष्यों के स्वास्थ्य के लिये बहुत ही हानिकारक है।

अमेरिका वाले मक्खियों को सपरिवार अपने देश से निकाल देने अथवा उन का मूलोच्छेद करने की फ़िक्र कर रहे हैं।

[संकलन]

———

कवियों की कौंसिल

(श्री रामनरेश त्रिपाठी)

आगे होने वाली एक बात यह है कि—

एक बार अखिल भारतवर्षीय कवि-सम्मेलन ने यह निश्चय किया कि देश-प्रबन्ध में विचार का सब काम कवियों के सुपुर्द होना चाहिए। क्योंकि कवि सरस्वती के लाडले पुत्र हैं। इन से बढ़कर कोई दूसरा विद्वान् नहीं हो सकता। इस निश्चय को लेकर संयुक्त-प्रांत के प्रत्येक ज़िले में कवियों ने अपनी मनोहर कविताएं सुना-सुनाकर जनता पर वह रंग जमाया कि कांग्रेस के नेता मुँह ताकते ही रह गये और वोटरों ने मंत्र-मुग्ध की तरह कवियों को कौंसिल के लिये मेम्बर चुना। जनता कवियों के हाव-भाव, नायिका-भेद तथा नखशिख आदि के वर्णन और सब ऋतुओं के अलग-अलग नुसख़ों पर ऐसी रीझ गई थी कि वह किसी के समझाने पर भी न समझ सकी कि कवियों का काम कौंसल में नहीं है। कवि-सम्मेलन ने यह तै कर दिया था कि तीन वर्ष से अधिक कविगण कौंसिल में न रहें। डेढ़ वर्ष तक पुराने ढर्रे के हिंदी और उर्दू के कवि अपनी कारगुज़ारी दिखा कर इस्तीफ़ा दे देंगे। फिर डेढ़ वर्ष तक नए ज़माने के कवि अपना करतब दिखाएंगे। इस निश्चय के अनुसार ब्रज भाषा के कवि और कुछ उर्दू के शायर मेम्बर चुन लिए गए थे। किसी एक ज़िले से ब्रज भाषा के कवि के अभाव में खड़ी बोली के एक कवि

मैम्बर होकर कौंसिल में पहुंचे थे। शेष सब पुराने ही ढंग-ढांचे के थे।

कौंसिल की पहली बैठक में दर्शकों की बेहद भीड़ थी। सभा-भवन में सब से पहले कवि-कुञ्जर मस्तानी चाल से झूमते हुए और यह सवैया पढ़ते हुए पधारे—

खाने को भंग नहाने को गंग
चढ़ै को तुरंग ओढ़ै को दुसाला।
धर्म धुरन्धर औ महिषी पति
द्वार झुलै गज जूथक हाला॥
पान पुरान सोहागिन सुन्दरी
गोद बिराजत सुन्दर बाला।
दो मँह एक तो देहु कृपानिधि
दो मृगनैनी कि दो मृगछाला॥

धीरे-धीरे कवि-सम्राट्, कवि-केसरी, कवीन्द्र, कविरत्न, कविराज, कवि-कलाधर, कविता-कान्त, कविवर, कवि-शार्दूल, कवि-शिरोमणि, कवि-महारथी, कवि-कन्दर्प, कवि-कोकिल, आदि कवि आ-आकर कुर्सियों पर बैठ गए। सब की आंखों से भङ्ग का शरूर झलकता था। इतने में एक शायर साहब तशरीफ़ लाए। उन के तमाम बदन में घाव थे, खून बह रहा था। लोहू के छींटे रास्ते में टपक रहे थे। कलेजे में एक तीर आधा घुसा हुआ था। वे यह गुनगुनाते आते थे।

नज़र पड़ा यक बुते परीवश
निराली सजधज नई अदा का।
जो उम्र देखो तो दस बरस की।
य क़हर आफ़त ग़ज़ब खुदा का॥

खड़ी बोली के कवि महाशय पहले ही आ बैठे थे। उन्हों ने शायर को देखते ही कहा—आइए, आइए, आदाबर्ज़। एक तीर आप ने चुभा ही रहने दिया?

शायर ने "तसलीमात" कह कर कहा—

क्या पूछते हो यारो
इस तीर नीमकश को।
य ख़लिश कहां से होती
जो जिगर के पार होता॥

शायर को देख कर ब्रज भाषा के कवियों में खलबली मच गई। एक ने अपने एक पार्श्ववर्ती कवि से धीरे से पूछा—इस खड़ी बोली के तुक्कड़ ने शायर को कहा, आधाबर्द। शायर ने कहा, तसलीमाज। 'तसलीमाज' का अर्थ तो मैं समझ गया कि इस गांधी टोपी पहनने वाले खद्दरधारी तुक्कड़ ने जेल में खूब तसली मांजी होगी। 'शायर ने खूब चुटकी ली। पर "आधाबर्द' का रहस्य मैं नहीं समझ सका।

पार्श्ववर्ती कवि ने भी अर्थ बताने में असमर्थता प्रकट की। एक कवि ने ज़ोर से कहा—शृङ्गार में यह बीभत्स-रस कहां से घुसा आ रहा है? इतने में कुछ शायर और आ पहुंचे सब लहू लुहान थे और पीड़ा से तड़फ रहे थे। अब तो ब्रज भाषा के प्रायः सब कवि एक-स्वर से बोल उठे—शृङ्गार में बीभत्स-रस को हम नहीं आने देंगे। सभापति भी एक कवि चुन लिये गये थे। उन्हों ने मैम्बरों के इस उज्र को जा समझा और शायरों को सब से अलग स्थान दिया। शायर का स्वागत करने के कारण खड़ी बोली के उस तुक्कड़ से भी कवि अप्रसन्न हो गये। उसे अलग तो नहीं बैठाया, पर उस के उपनाम 'ईश्वर'

को उन्हों ने 'ऊसर' कर लिया। सदस्य लोग उसे 'ऊसर' कवि कहने लगे।

कौंसिल का कार्य प्रारम्भ करते हुए सभापति कवीन्द्र ने पहले ईश्वर-स्तुति की—

आलस नींद में मातो सदा,
अरु उद्यम-हीन दुबेर खवैया।
प्यास लगै नहिं पानी भरौ,
अरु पास धरो उठि के न पिवैया॥
ऐसे निकम्मन के भरि जन्म,
दयानिधि हौ तुम पेट भरैया।
भोर ते साँझ औ साँझ ते भोर लों,
मोसों कपूत न तोसों दिवैया॥

खड़ी बोली का वह तुक्कड़ ईश्वर-स्तुति में शरीक होने का लोभ संवरण नहीं कर सका। उस ने उठ कर कहा—ईश्वर स्तुति पर मेरी भी एक कविता सुन ली जाय। सभापति की स्वीकृति की कुछ परवा किये बिना ही वह पढ़ने लगा—

हे ईश्वर ! तुम सब के स्वामी।
मैं तुम को प्रणाम करता हूं॥
शेष हुआ जाड़े का मौसम।
आया है अब समय बसन्ती॥
फूले सेमर ढाक विपिन में।
नाम बड़े औ दर्शन छोटे॥
रूप देख आये बहु पक्षी।
पर लौटे अपना मुंह ले कर॥

वह बीच में ही रोक दिया गया। इतने में एक शायर

साहब उठ खड़े हुए। वे आगरे से आए थे। उन्हों ने कहा—मैं भी खुदा को दुआएँ दे लूं—

फ़रहाद की निगाहें शीरीं की पसलियाँ हैं।
मजनूं की सर्द आहें लैला की उँगलियाँ हैं॥
क्या खूब नर्म नाज़ुक दी आगरे को ककड़ी।
मुझ को भी ऐ खुदा तू दे नून तेल लकड़ी॥

इस प्रकार स्तुति-प्रार्थना हो जाने के बाद सभापति ने प्रारम्भिक भाषण किया। भाषण के अन्त में उन्हों ने कहा—भाइयो! जनता में सुख की बृद्धि करना, दुःख को घटाना, ख़र्च कम करना और आय बढ़ाना यही कौंसिल का मुख्य कार्य है। आज की बैठक समाप्त की जाती है। कौंसिल की दूसरी बैठक एक महीने के बाद होगी। तब तक आप लोग अपने अपने ज़िले का दौरा कर के जनता के दुःखों की जांच कर आइए, और कौंसिल में प्रस्ताव उपस्थित कीजिये। जनता ने कवियों को कौंसिल का मेम्बर चुन कर जो बुद्धिमानी की है उस के लिये उसे धन्यवाद देने का प्रस्ताव मैं उपस्थित करता हूँ। आशा है, आप लोग स्वीकार करेंगे।

प्रस्ताव सर्वसम्मति से पास हो गया।

एक महीने के बाद कौंसिल की बैठक फिर प्रारम्भ हुई। वही बांके-तिर्छे मस्त कवि फिर जमा हुए। सब के रङ्ग-ढङ्ग, सज-धज, काट-छांट, नाज़ो-अदा और वेष-भूषा जुदा-जुदा थे। कानपुर के मेम्बर ने कौंसिल में सब से पहला प्रस्ताव यह उपस्थित किया—

यह कौंसिल स्त्रियों से अनुरोध करती है कि वे चश्मा न लगाया करें क्योंकि इस से उन के कटाक्ष की तेज़ी बढ़ जाती

है और पुरुषों को कष्ट होता है।

प्रस्ताव सुन कर खड़ी बोली का कवि चिल्ला उठा—अश्लील, अश्लील। ब्रज भाषा के एक कवि ने मुंह टेढ़ा कर के चिढ़ाते हुए कहा—अश्लील, अश्लील। तुम्हारे जैसे नामर्द को क्या मालूम कि कटाक्ष क्या होता है?

सभापति ने वोट लिया तो उसी एक को छोड़ कर शेष सब ने प्रस्ताव के अनुकूल वोट दिया। प्रस्ताव में इतना और जोड़ दिया गया कि चश्मे के दूकानदार स्त्रियों के हाथ चश्मा न बेचें।

गर्मी का मौसम था संयुक्त-प्रान्त में आगरा, झांसी और प्रयाग ऐसे स्थान हैं, जहां अन्य ज़िलों की अपेक्षा अधिक गर्मी पड़ती है। उस साल इतनी गर्मी पड़ी कि तापमापक-यन्त्र में पारा ११२—११३ डिग्री तक चढ़ गया। सैंकड़ों आदमी लू लगने से मर गए। कुओं में पानी सूख गया। जंगलों में पशु और पक्षी पानी बिना मर गए। यह सब ख़बरें समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुईं। झांसी के मेम्बर ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया—

इस बात की जांच की जाय कि इस साल झांसी, प्रयाग और आगरे में अधिक गर्मी क्यों पड़ी? मेरा अनुमान है कि इस में प्रकृति की क्रूरता नहीं है, बल्कि यह आग अपने ही घर की पैदा की हुई है। तीन सौ वर्ष पहले भी ऐसी घटना इस देश में हुई थी और उस का प्रभाव मानसरोवर तक पड़ा था। सुनिए, महाकवि गङ्ग ने कहा है—

बैठी थी सखिन संग पिय को गवन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग आग भर की।
"गंग" कहै त्रिविध सुगन्ध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की॥

प्यारी को परसि पौन गयो मानसर यहँ,
लागत ही और गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो पङ्क सूख्यो भूमि दर की॥

जान पड़ता है कि उक्त तीन ज़िलों में पुरुष गर्मी में विदेश-यात्रा करते हैं। उन की विरहिणियों की विरहाग्नि से इन ज़िलों की गर्मी बढ़ जाती है।

सर्व-सम्मति से यह निश्चय हुआ कि उक्त तीन ज़िलों के कलक्टरों को लिखा जाय कि वे गर्मी में अपने ज़िले से किसी विवाहित पुरुष को परदेश न जाने दें।

कौंसिल की इसी बैठक में रेलवे बोर्ड के चेयरमैन का यह पत्र पढ़ा गया कि झरिया, रानीगञ्ज और आसनसोल की कोयले की खानों के मजूरों ने हड़ताल कर दी है; अत एव कोयले की कमी से कुछ दिनों के लिए कुछ ट्रेनें बन्द कर दी जायँगी।

इस पर बड़ी देर तक विचार होता रहा। एक शायर ने अन्त में उठकर यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि जब उर्दू के शायरों में ऐसी आग है कि—

यही सोज़े दिल है तो महशर में जलकर।
जहन्नुम उगल देगा मुझ को निगलकर॥

× × ×

बन्द हो जाती हैं सैयारों की आँखें ख़ौफ़ से।
फेंकता हूँ जब मैं दिल से आहे आतिशबार को॥

× × ×

मैं अगर आह करूँ दम में समुन्दर जल जाय।

क्या अजब है जो मेरे जिस्म से बिस्तर जल जाय ॥

तो इन शायरों से काम क्यों न लिया जाय ?

एक कवि ने एतराज़ किया—यह शायरों की नहीं, आशिक़ों की बातें हैं। शायर ने कहा—वाह जनाब !

जो हूरों पै मरता है वे देखे भाले।
है क्या कोई आशिक़ मुसलमाँ से बढ़कर ?॥

हर एक मुसलमान आशिक़ होता है और हर एक आशिक़ शायर होता है।

अन्त में बड़ी बहस के बाद यह निश्चय हुआ—एंजिनों के लिए अब कोयले की ख़रीद सदा के लिए बन्द कर दी जाय। एंजिन चलाने के लिए प्रत्येक बायलर के नीचे एक शायर बैठा दिया जाय। शायर को २००) मासिक वेतन दिया जाय। शायर की आह से पानी गरम होगा, भाफ़ बनेगी और एंजिन चलेगा।

दूसरी बैठक के मुख्य प्रस्ताव यही थे। तीसरी बैठक बरसात में हुई। उस साल इतना पानी बरसा कि गोमती में बाढ़ आ गई और लखनऊ सुलतानपुर और जौनपुर पानी में डूब गए। कौंसिल में बाढ़-पीड़ितों की सहायता का प्रस्ताव पास हुआ। एक कवि ने कहा—इस बाढ़ में बादलों का ही नहीं, आंखों का भी पानी शामिल है। पौने दो सौ वर्ष पहले तोष कवि के समय में ऐसी एक बाढ़ आ चुकी है। प्रमाण लीजिए—

कामिनि के अंसुवान के नीर पनारे बहे बहिके भये नारे।
नारे भये नदियाँ बह के नदियाँ नद ह्वै गये काटि करारे ॥
बेगि चलो तौ चलौ घर को कवि तोष कहैं सुन प्रान पियारे।
वे नद चाहत सिन्धु भये अब सिन्धु ते ह्वै हैं जलाहल सारे ॥

जान पड़ता है, कहीं गोमती-तट पर कोई विरहिणी रोई है। इसी से यह बाढ़ आई है।

एक शायर ने सोचा कि इञ्जिन गरम करने के काम में तो शायरों को अच्छी आमदनी हो गई। इस मामले में भी अपने भाइयों का कुछ उपकार करना चाहिए। उन्हों ने कहा—

हज़रत! यह बाढ़ विरहिनियों के आँसू से नहीं, शायरों के आंसू से आई है। उन दिनों लखनऊ में मशायरा था। एक से एक बढ़ कर रोने वाले शायर जमा थे। उन के आंसुओं से गोमती दरिया चढ़ गया। भला, शायरों के मुक़ाबले में विरहिनियाँ क्या रो सकती हैं? हमारे यहाँ ऐसे अच्छे रोने वाले शायर हैं—

रोऊँगा आके तेरी गली में अगर मैं यार।
पानी ही पानी होगा हरेक घर के आस-पास॥

* * *

समुन्दर कर दिया नाम उस का
नाहक़ सब ने कह-कह कर।
हुए थे जमा कुछ आँसू
मेरी आंखों से बह-बह कर॥

* * *

यहाँ तक गिरिया में रोये सहर तक।
गली कूचे में पानी है कमर तक॥

* * *

बांधेगी गर रोने प मेरी चश्मतर कमर।
पाओगे आसमाँ प तुम पानी कमर-कमर॥

* * *

हम ज़ेरे ख़ाक ले के जो ये चश्मतर गए।

अन्धे कुयें भी जितने थे पानी से भर गये ॥

मेरा प्रस्ताव है कि शायरों को कुछ मासिक वेतन दिया जाया करे कि वे न रोया करें और रोयें भी तो गर्मियों में ; जिस से बाढ़ न आवे ।

एक कवि ने इस का विरोध किया और कहा—यह बात हमारी समझ में नहीं आती कि शायर रोते क्यों हैं ? विरहिणियाँ तो अपने पति के लिए रोती हैं । शायरों को भी क्या पति की ज़रूरत है ?

इस पर खड़ी बोली के कवि ने कहा—अश्लील, अश्लील।

एक दूसरे कवि ने कहा—इन शायरों को ऐसे स्थान में भेज देना चाहिए, जहाँ पानी की अत्यन्त आवश्यकता हो ।

सभा पति ने पूछ—ऐसे स्थान हैं ?

कवि ने उत्तर दिया—गोबी, सहारा, अरब और बीकानेर।

अन्त में बहुसम्मति से यह प्रस्ताव पास हुआ—

बीकानेर महाराज को लिखा जाय कि यदि वे अपने यहाँ इस प्रान्त के शायरों के बसाने का प्रबन्ध करें तो युक्त-प्रान्त की गवर्नमेण्ट उन को चुन कर अच्छे अच्छे रोने वाले इतने शायर दे सकती है कि महाराज को अपने राज्य में नहर लाने का झञ्झट न करना पड़ेगा । यदि महाराज की स्वीकृति आ जाय तो कलक्टरों को आज्ञा दी जाती है कि वे सूचना पाते ही अपने ज़िले के शायरों को बीकानेर भेज दें । उन का राह ख़र्च सरकार देगी । जो शायर बीकानेर जाना नापसन्द करेंगे वे ज़बरदस्ती गोबी, सहारा या अरब ले में जाकर छोड़ दिए जायँगे।

कौंसिल की इस बैठक में महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव यही था । अगली बैठक जोड़ों में हुई । उस में एक कवि ने यह प्रस्ताव

उपस्थित किया—

रेल और यूनिवर्सिटियों के कारण इस प्रान्त में विरहिणियों की संख्या बढ़ गई है। लाखों विरही प्रतिदिन रेल में चढ़े फिरते हैं और हज़ारों विरही युनिवर्सिटियों में पढ़ रहे हैं। मैं ने इन के घरों में जांच करके देखा है कि स्त्रियों को पति का वियोग ही नहीं अखर रहा है, बल्कि उन को कोयल और पपीहे भी सताते हैं। अत एव मेरा प्रस्ताव है कि कोयल और पपीहों के मारने की ओर गवर्नमेन्ट वैसा ही ध्यान दे, जैसे वह मच्छर और चूहे मारने के लिये तत्परता दिखलाती है।

एक कवि ने पूछा—विरहिणियों को दक्षिण-पवन भी तो दुःखदायी है ?

प्रस्तावक ने कहा—पहला प्रस्ताव पास हो जाने दीजिये तो दक्षिण-पवन का भी प्रबन्ध किया जायगा।

वोट लेने पर कोयल और पपीहों के मारने का प्रस्ताव पास हो गया।

दूसरा प्रस्ताव उसी कवि ने यह उपस्थित किया—

विन्ध्याचल-पर्वत-श्रेणी पर एक ऐसी ऊँची दीवार उठा दी जाय, जैसी चीन में उठाई गई है। उस दीवार से दक्षिण-पवन के आने में रुकावट होगी।

सभापति ने कहा—

यह प्रस्ताव एसेम्बली में उठाया जाना चाहिए विन्ध्याचल-पर्वत-श्रेणी का बहुत थोड़ा अंश हमारे प्रान्त में है।

प्रस्तावक ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया।

एक कवि ने यह प्रस्ताव किया कि शहरों में रोशनी के लिए सरकार का बड़ा रुपया ख़र्च होता है। इस मद में

किफ़ायत करने के लिए यह अच्छा होगा कि जयपुर या मथुरा से सुन्दरियाँ मँगा कर प्रत्येक शहर में एक एक ऐसी ऊची मीनार पर रात भर बैठा दी जाया करें, जहाँ से उन के चन्द्रमुख का प्रकाश सारे शहर में पहुँच सके। कविवर बिहारी लाल के समय में ऐसी सुन्दरियां जयपुर और मथुरा में थीं। प्रमाण—

पत्रा ही तिथि पाइए, वा घर के चहुँपास।
नितप्रति पूनो ही रहत, आनन ओप उजास॥

इस पर कौंसिल ने सर्वसम्मति से निश्चय किया कि—

संयुक्त-प्रान्त के प्रत्येक शहर में आवश्यकतानुसार काफ़ी ऊँची एक एक मीनार बनाई जाय, उस पर रात में सूर्यास्त से सूर्योदय तक एक एक चन्द्रमुखी बैठा दी जाय। चन्द्रमुखी का कर्तव्य होगा कि रात भर वह अपना मुख चारों ओर घुमाती रहे। प्रत्येक चन्द्रमुखी को २००) मासिक वेतन दिया जायगा। मथुरा के कलक्टर चन्द्रमुखी सप्लाई करें। और जयपुर दरबार को लिखकर प्रार्थना की जाय कि इस सुप्रबन्ध में वे हमारी सहायता करें। कौंसिल ने यह मान लिया है कि उन के राज्य में चन्द्रमुखियाँ बहुत हैं।

बलिया के मेम्बर ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि इस वर्ष वृष्टि अधिक होने से हमारे जिले में मलेरिया का प्रकोप बढ़ गया है। डाक्टर कहते हैं कि मच्छरों की वृद्धि से ही मलेरिया पैदा होता है। अत एव मच्छरों के हटाने के लिये प्रत्येक गाँव में जहाँ मलेरिया फैला हो, एक एक शायर दिया जाय, जिस की आह के धुएँ से मच्छर भाग जायँगे। इस इलाज का उपयोग स्वर्गीय महाकवि अकबर ने किया था। प्रमाण—

रक़ीबे सिफ़ला ख़ू ठहरे न मेरी आह के आगे।
भगाया मच्छरों को उन के कमरे से धुवाँ होकर।

शायरों के मुँह से बेहद धुवाँ निकलता है। इस के साक्षी ज़ौक हैं—

न करता ज़ब्त मैं नाला तो फिर ऐसा धुवाँ होता।
कि नीचे आसमाँ के यक नया और आसमाँ होता॥

निश्चय हुआ कि बलिया के कलक्टर को लिखा जाय कि वह मलेरिया वाले स्थानों में शायरों को भेजने का प्रबन्ध करे। शायर किसी बड़े पिञ्जड़े में बैठा कर गाँव के बीच में या बाहर किसी अच्छे स्थान पर रख दिए जाया करें। हवा का रुख़ देख कर पिञ्जड़े का भी स्थान बदलता रहे। प्रत्येक शायर को ५०) मासिक दिया जाय।

बनारस के मेम्बर ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि प्रत्येक क़स्बे और शहर के आस-पास सरकार की ओर से अभिसार स्थान बनवा दिये जायँ।

ऊसर कवि चिल्ला उठा—अश्लील, अश्लील।

कवीद्र ने मुँह चिढ़ाते हुए कहा—अश्लील, अश्लील। कुछ समझते भी हो? नाम तो हम लोगों का है मेम्बर। पर यहाँ मेम कहाँ हैं? ख़ाली बर ही बर बैठे हैं।

सभापति ने कहा—यह प्रस्ताव अगली बैठक के लिए स्थगित किया जाता है।

मैनपुरी के मेम्बर ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि स्त्रियों को देखे बिना हम लोगों की बुद्धि में स्फूर्ति नहीं आती। अतएव या तो सभापति महोदय सस्त्रीक बैठा करें अथवा हम लोग किसी मनोहारिणी, सुकवितारिणी, स्वतन्त्रविहारिणी,

मुग्ध-कारिणी, मधुरताधारिणी, रमणीरत्न को सभापत्नी-पद की अधिकारिणी चुनें। खड़ी बोली के कवि ने 'सभापत्नी' शब्द पर आपत्ति की और इस प्रस्ताव पर कहा—अश्लील, अश्लील।

यह प्रस्ताव भी अगली बैठक के लिए स्थगित कर दिया गया।

लखनऊ के मैम्बर ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि मदरसों में नायिका-भेद, नखशिख और काम-शास्त्र की शिक्षा अनिवार्य कर दी जाय। इस के बिना सहृदयता नष्ट होती जा रही है। आज-कल की भयंकर शिक्षा का ही यह कुपरिणाम है कि शिक्षित-समाज में शुष्क-हृदय, नीरस, अरसिक, कविता-कानन में एरण्ड-रूप खड़ी बोली के कवि पैदा होने लगे हैं।

निश्चय हुआ कि यह प्रस्ताव विचारार्थ एक कमेटी को सौंपा जाय, जिस में पांच सदस्य हों। प्रस्तावक ही संयोजक हों। पांच मैम्बरों के नाम—कवि-कुञ्जर, कवि-पञ्जर, कवि-केसरी कवि-शार्दूल और प्रस्तावक।

कवियों की कौंसिल की प्रत्येक बैठक के समाचार दैनिक और साप्ताहिक पत्रों में सदा छपते रहे। उन्हें पढ़-पढ़ कर संयुक्त-प्रान्त की जनता खूब कुढ़ती रही। कांग्रेस के कार्यकर्त्ता अलग पानी पी-पीकर कोस रहे थे। परिणाम यह हुआ कि पूरा एक वर्ष भी न बीतने पाया कि जनता ने अपने मैम्बरों के विरुद्ध बग़ावत खड़ी कर दी। प्रत्येक ज़िले से अपने-अपने मैम्बरों के विरुद्ध यही चिल्लाहट सुनाई पड़ने लगी कि 'चले आओ, हम दूसरा मैम्बर चुनेंगे"।

जनता का एक मत देख कर भारत-सरकार ने संयुक्त-प्रान्त की कौंसिल तोड़कर नई कौंसिल बनाने का हुक्म निकाल दिया। कवि लोग घर लौट कर अपनी अपनी विरहिणियों के

गले लगे और कहने लगे कि नाहक वहाँ जा फँसे थे।

खड़ी बोली के कवियों को अपनी करतून दिखाने का मौका ही न मिला।

[सास्वती, फर्वरी १९२६]

ख़लीफ़ा के हाथ

(श्रीराम शर्मा, बी० ए०)

मोटर की बैटरी जब समाप्त हो जाती है, तब बिजली घर में उसे चार्ज करते हैं। चाकू जब मोथरा हो जाता है, तब पत्थर पर उसे पैनाते हैं। मेरा जब मस्तिष्क और शरीर थक जाता है और जब चिन्ता और कष्टरूपी ग्राह समूचा निगल जाने पर उतारू दीख पड़ता है, तब मुझे मानसिक और शारीरिक बैटरी को चार्ज करने के लिये प्राकृतिक डाइनमो—बन और पर्वतों की शरण लेनी पड़ती है। जङ्गलों और खेतों में-मनुष्यों से दूर पक्षी और पशुओं की किलोलों, झूमती हुई डालियों और लह-लहाते हुए खेतों और चिड़ियों की चहक में मुझे जो आनन्द प्राप्त होता है, वह कोरे पांडित्य के बोझ से दबी हुई आत्माओं की बाणी में नहीं मिलता। जङ्गलों में आधुनिक सभ्यता के कीटाणुओं से दूर हृदय की हिलोर और कल्पना की उड़ान के लिये कोई बन्धन नहीं होता; इसी लिये साल में दो-एक बार भीतर वाला कहता है—

"Away, away, from men and towns,
To the wood and the downs—
To the silent wilderness
Where the soul need not repress
Its music."

[कविवर शैले]

पर प्राकृतिक प्रांगण से आनन्द ग्रहण करने के लिए

विशेष प्रवृत्ति होनी चाहिए। रात में फ़ोटो लेने वाले कैमरा का लैंस विशेष ही होता है। प्राकृतिक छटा में मुझे वही मज़ा आता है, जो मोर को गर्जन में, बतख को तैरने में और शिकारी को शिकार का पीछा करने में। प्रकृति-दर्शन के समय कहीं साथ में रायफ़ल और बन्दूक हो, तो फिर क्या कहना। पांडित्य और योग का जहाँ मिलन हो, उस अवस्था की बात ही निराली है।

यदि आप में प्रकृति के निरीक्षण की ओर थोड़ा सा भी झुकाव हो, तो उस में आप को ऐसे-ऐसे दृश्य देखने में आयँगे, जो मानव-संसार में दीखना मुश्किल है। राजनैतिक दाँव-पेच आत्म-रक्षा की विकलता, युद्ध की चालें, स्वावलम्बन, कौन-सी ऐसी बात है, जो मानव-संसार से दूर प्रकृति के इस स्वच्छन्द साम्राज्य में न होती हो ?

* * *

मोतीझला के उपरान्त मैं अपनी कुटिया से ४०–५० गज़ की दूरी पर तबीयत बहलाने के लिये बैठा था। मेरी दृष्टि जामुन के वृक्ष की ओर थी कि इतने में दाईं ओर से ईख के खेत के कोने से, श्यामोली चिड़िया की चटपट चटरर चटरर सुनाई पड़ी। दूसरी श्यामोली ने वही क्रोध और विरोध-भाव प्रकट किया। पास में सतभैया फुदक-फुदककर अपनी जीविका प्राप्ति में लगे थे । ये स्वभाव से डरपोक और कोलाहलकारी होते ही हैं। चटचट चटरस आतङ्क सिगनल — सुनकर सब के सब नीम की डालियों पर जा बैठे और चटचट चटरर में उन्हों ने अपनी कर्णकटु "कोहै कोहै कैं कैं" ध्वनि मिला दी। गिलहरी भी संभल गई और पूंछ ऊपर-नीचे करती

हुई बोलने लगी—"तिरिप तिरिप तिर्पिरो।" इस सम्मेलन से आकर्षित होकर चार-पांच बड़ी गलगलें ऊपर आकर "कें कें" कर मँडराने लगीं। यह सब कुछ आतङ्क-सूचक था। पक्षियों का कोई शत्रु वहां अवश्य होगा। नहीं तो ये अनेक स्वर में—एक ही विरोध और आतंक स्वर में—क्यों बोलते? हो न हो सांप या न्यौला होगा, पर मार्च के प्रारम्भ में प्रातः काल के समय सांप नहीं हो सकता। ईख अभी उगी न थी। कोने पर घास थी। उसी में कुछ था। वही आतङ्क-बिन्दु हो रहा था। अपनी गर्दन ऊँची करके जो मैं ने देखा, तो पिछली टांगों पर बैठा न्यौला चारों ओर को ताकता हुआ दिखाई पड़ा। मेरा अनुमान ठीक था, और पक्षियों का विरोध युक्तियुक्त। उस ओर को मैं ज्यों ही बढ़ा, त्यों ही पूँछ के बाल फुलाये हुए नकुल महाराज तीन-तेरह हो गए। चिड़ियों ने थोड़ी देर तक अपनी दैया-तोबा जारी रक्खी, बाद को वे केवल प्रस्ताव पास करने वालों की भाँति अपनी दैनिक क्रिया—दैनिक भोजन की टोह में लग गईं। पशुओं में संग्रह की लालसा नहीं होती। संग्रह करना—जिस से भविष्य में काम आवे—सामूहिक शक्ति और सभ्यता का सूचक है। मानवी समाज में तो पूँजी बड़प्पन का पैमाना-सी हो गई है पर वह सुख का पैमाना नहीं हो सकती। पशु-पक्षी जो संग्रह नहीं करते, जो अपनी भूख बुझा कर सायंकाल को आनन्द-सागर में लीन हो जाते हैं, अगले दिन फिर उसी धुन में लगते हैं, और आनन्द से विचरते हैं। यह दो चार में केन्द्रीभूत अतुल सम्पत्ति अनेक युद्ध और पापों का मूल है।

कोने में जाकर देखा, तो एक अधखुदे छेद में न्यौले

के नख-चिन्ह अंकित थे। चिड़ियों ने उसे देख पाया, तो हाय-हाय मचा दी। हाय-हाय का हो-हल्ला चाहे थोड़ी देर के लिये कारगर हो, पर है वह घृणा और हिंसासूचक। आत्मबल का प्रदर्शन उस में नहीं है। आखिर न्यौला को भी मैदान छोड़कर भागना पड़ा। खुदाई बन्द करके देखभाल में वह वैसे ही बैठा था और शायद भागने वाला ही था। मेरी गति से वह हवा हो गया।

मैं लौट कर अपनी जगह जा बैठा। थोड़ी देर बाद क्या देखता हूँ कि न्यौला एक मरी हुई चिड़िया की गर्दन दबाये खेत की मेंड पर खींचता चला आ रहा है।

मैं आश्चर्य से यह तमाशा देख रहा था। चिड़िया का डैना कहीं दूब-घास में उलझ जाता, तो न्यौला झटका मार कर उसे खींच लेता था। चिड़िया को खींचता जाता था और स्वाभाविक शिकारी की भांति अपने रक्त-वर्ण तथा सतर्क नेत्रों से चारों ओर देखता भी जाता था। मैं यह सब खेल देख रहा था। इतने ही में मेरे भाई की कुतिया रूबी वहां आई। न्यौले को मरी चिड़िया घसीटते देख कर पहले तो वह चकराई और फिर पूंछ ऊँची करके और गर्दन के बाल फुला कर धीरे-धीरे गुर्राई और झपट पड़ी। गांव के लेंडी कुत्ते पहला हमला तो ऐसा करेंगे, मानो बोटी-बोटी नोच ले जायँगे, पर कहीं एक भी डण्डा या लाठी लग जाय, तो कांय-कांय की धुनि से और कुत्तों को भी दब्बू बना देंगे। तब और कुत्ते इधर-उधर को 'हू' और 'घू' करते हुए चले जाते हैं। कोई-कोई थोड़ी दूर पर खड़े होकर अखलोर करते हैं, मानो मैदान मार लिया हो, और दो एक दीवारों के कोनों को सूंघ कर अपनी राह लेते हैं।

रूबी भी इसी तरह की देहाती कुतिया थी। न्यौले पर धावा बोल दिया। दो-एक बार वह न्यौला को पहले भगा चुकी थी। ख्याल करती होगी कि इस न्यौले की हस्ती ही क्या है? मुंह में पकड़ कर चबा कर फैंक दूंगी। दस-बारह छलांग में न्यौले के पास पहुंच गई। कुतिया के इस आक्रमण के पूर्व ही उस की रोष पूर्ण आकृति देख कर न्यौला अपनी लूट को छोड़ दुम दबा कर भागा था, पर रूबी कर्णमार्ग से भाग कर दस-बारह छलांगों में उस के पास पहुंच गई।

न्यौला स्वभाव से ही शिकारी और वीर होता है, और अब तो आत्म-रक्षा का प्रश्न आ गया था। भोले पक्षी तक सताये जाने पर मारते हैं। धूलि तक चोटी की ख़बर लेती है। फिर न्यौला! और यह सब से बड़ा और बूढ़ा न्यौला, जिस को मैं "ख़लीफ़ा कहता" था, बचने का उपाय न देख कर वह अकस्मात् लौट पड़ा और 'झिकक चख' करके पहले तो उसने कुतिया को बिभीषिका दी, पर कुतिया तो उसे कदाचित् चूहा समझती होगी। कुतिया का मुँह न्यौला की तरफ बढ़ा और उधर से भी चोट हुई। ख़लीफ़ा उछला और कुतिया का सारा क्रोध काफ़ूर हो गया। कांय-कांय और कूँ-कूँ करती हुई मैदान छोड़ कर भागी। मेरे सामने होकर निकली, तो उस की नाक से ख़ून की धार बह रही थी, और न्यौला अभी तक उस की गाक में अपने दांत गड़ाये और अपने पंजों के नखों से कुतिया की थूथनी को पकड़े चला जा रहा था। भयंकर परिस्थिति थी। कुतिया चिल्लाती फिरती थी और वीर न्यौला उस से चिपटा हुआ था। मैं ने कुतिया को पकड़ा। मुझे देख कर न्यौला कुतिया को छोड़ पूंछ और शरीर के बाल फुलाए हुए भाग गया। मैं ने कुतिया

को न्यौले पर हुलकारा, पर अब वह ज़ोर शोर कहाँ ? कातर-दृष्टि से पूंछ हिला कर रह गई।

× × × ×

इस घटना से दो विशेष बातें हुईं; कुतिया को अयोग्ता का सार्टीफ़िकेट मिला, दूसरी बात यह हुई कि न्यौला के प्रति हमारी श्रद्धा बढ़ गई। बलिदान, वीरता और त्याग विपक्षियों के हृदय में भी श्रद्धा उत्पन्न करता है। न्यौला मांसाहारी है, पर वह घी, दूध मिठाई और रोटी को भी बड़े स्वाद से खाता है। मैं ने न्यौलों को अपनी कुटिया के भीतर आकर्षित करने का ढंग निकाला। कुटिया वाले खेत में चार पाच न्यौला रहते हैं और इधर-उधर घूमा करते हैं। उन के मार्ग में बताशे रोटी और अन्य खाद्य-सामग्री रखनी प्रारम्भ की। फिर तो न्यौले प्रतिदिन कुटिया में आने लगे। पालतू तो नहीं हुए, पर उन की झिझक खुल गई। कुटिया की एक ओर से आकर सब का निरीक्षण कर जाना उन का साधारण काम था, और ख़लीफ़ा तो बड़ी शान से निरीक्षण करता था। झींगुर और अन्य कीड़ों मकोड़ों को खा जाता था। बर्तनों की तलाशी तो वह खुफ़िया पुलिस वालों के समान लेता था। कहीं बन्द बर्तनों में कोई घी की सामग्री न हो—यह लालच उस के लिए बहुत था। एक बार एक कोने वाले छेद को सूंघ कर उस ने खोदना प्रारम्भ किया। थोड़ी देर खोद लेता था और फिर बैठ कर देखता था कि हम में से कोई उन की ओर को आ तो नहीं रहा है। खोदते-खोदते दस-बारह मिनट हो गए और तब छेद में से चीं-चीं की आवाज़ हुई। न्यौला एक बड़े चूहे को पकड़ लाया और उसे लेकर भाग गया। इस

प्रकार मियां ख़लीफ़ा कुटिया में आते और कुछ-न-कुछ सफ़ाई कर जाते। हम लोग न्यौले को इन्सपेक्टर-जनरल कहने लगे।

× × × ×

प्रकृति का ऐसा नियम है कि किसी अवस्था अथवा वस्तु का विपरीत रूप भी वहीं होता है। समुद्रमथन में विष मिला, तो साथ में अमृत-कलश भी आया। जन्म होता है, तो उस का दूसरा रूप मृत्यु भी होती है। विषधर के साथ-साथ उस का नाशकारी न्यौला भी परमात्मना ने दिया है। संख्या-विरोध नियम प्रकृति में अद्भुत है। वह एक ऐसी विचित्र शृंखला है, जो कभी टूटती नहीं, परन्तु जहाँ साँप होगा, वहां न्यौला अवश्य मिलेगा। अपनी कुटिया के निकट कई साँप भी रहते थे। दो एक साँप के पंजर मिले। कदाचित् वे न्यौला द्वारा खाये हुए साँपों के होंगे।

एक दिन मैं प्रातः काल खेतों में जा रहा था। अभी कुछ कुछ अंधेरा था। सामने कोई लकड़ी-सी दिखाई पड़ी। ध्यान से देखा, तो साँप मालूम हुआ और समीप से देखा, तो दुमुही—कुचलैंड—निकली। दुमुही अन्य साँपों के बराबर द्रुतिगामी नहीं होती। उसे कोई भी पकड़ सकता है। कोई-कोई लोग तो उस का घर में होना शुभ समझते हैं, पर लपर-लपर कर साँप की भाँति उस का जीभ निकालना और उस की तेज़ आँखें भयावनी होती हैं। उस में एक और बात विचित्र है वह अपने शरीर की इतनी कड़ी गुंजलकें (Coils) बना लेती है कि उन का खोलना या छुड़ाना कठिन हो जाता है। अंग्रेज़ी में जीव-जन्तुओं पर प्रसिद्ध पुस्तक 'वुड्स का प्राकृतिक इतिहास' है। उस में लिखा है कि दुमुही प्रायः क्रोध नहीं करती और न

आक्रमण करती है। वह आवश्यकता से अधिक शान्त है। यह ठीक है, पर वह क्रोध भी करती है। उसे पकड़ कर पानी में दो-एक बार फेंको और तब पकड़ो, तो मुँह फ़ाड़ कर काटने का प्रयत्न करती है। कदाचित् उस में विष नहीं होता। किंवदन्ती तो यह है कि वह बड़ी विषैली होती है। ख़ैर, मैं कुछ आगे जा कर कुएँ पर बैठ गया। जिधर दुमुही पड़ी थी, वही मार्ग ख़लीफ़ा के आने जाने का था। मैं सोचने लगा कि यदि ख़लीफ़ा का और इस का सामना हो जाय तो क्या हो? मैं आध घण्टे तक कुँए पर बैठा रहा। इस बीच में दुमुही लिपटकर बड़ी कठोर इंडुरी मारकर बैठ गई थी। आध घण्टा के उपरान्त ख़लीफ़ा साहब आए। मार्ग में कुछ दूर से लिपटी हुई कोई वस्तु देख कर वह चौकन्ना हो गया। सिर ऊँचा करके और नाक हिलाकर बग़ल से उसे देखा और उस पर टूट पड़ा। ख़लीफ़ा ने दुमुही पर वारों की झड़ी-सी लगा दी। वंशपरम्परागत स्वभाव से वह दुमुही के मुँह को पकड़ना चाहता था, पर दुमुही ने उस को गुञ्जलक में ऐसा छिपाकर रक्खा कि ख़लीफ़ा की गुञ्जलक पर एक न चली। तब उस ने उस की पूँछ पर अपने पैने दांत चलाए। उसे लोहू-लुहान कर दिया पर उसे काट न सका। उस ओर से विफल होकर उस ने दुमुही के शरीर के अन्य भाग पर चोटें की। नीचे थोड़ा घुसकर कई जगह काट दिया। सब कुछ हुआ, पर मुँह पर उस की पहुँच न हुई। ख़लीफ़ा ने उसे उलटने-पलटने के लिये दांव-पेच किए, पर वह तो अभेद्य दुर्ग था। पत्थर में से भी कहीं तेल निकलता है? लगभग आध घण्टा के उपरान्त ख़लीफ़ा ने अपना सिर हिलाया और दुमुही को उपेक्षा और घृणा की दृष्टि से देखता

हुआ चला गया। ख़लीफ़ा के हाथ ओछे पड़े। उस के बार निकम्मे प्रमाणित हुए। विजय-श्री दुमुही के साथ रही।

आश्विन के महीना में दोपहर के समय नीम के नीचे चारपाई पर पड़ा तुर्गनेव की पुस्तक पढ़ रहा था। पानी के लिये उठा और पानी पीकर गिलास रख रहा था कि मेंड़ के पार दूसरे खेत में ज्वार के कुछ पेड़ हिलते हुए दिखाई पड़े। आँखें खुल गईं। चौकन्ना होकर देखा, तो कुछ समझ में न आया। वायु का वेग इतना प्रबल न था और वायु का वेग इतना प्रबल भी होता, तो ज्वार के अन्य पौदे भी हिलते, पर नहीं, तीन-चार पौदे ही झुक-झुक कर किसी को प्रणाम-सा कर रहे थे। क्या था? कुछ समझ में न आता था। कौतूहल तो था ही, तिस पर शिकारी-का कौतूहल और उस समय पढ़ भी रहा था तुर्गनेव का शिकार वर्णन। वर्णन को रख कर उठा और चुप चाप पांव साधकर उस ओर गया। मेंड़ के समीप पहुँचा और झुककर मैं ने अपना सिर धीरे-धीरे ऊपर को दूसरी ओर को किया, जिस से वहा का कोई जीव डर कर भाग न जावे। दूसरी ओर दृष्टि पड़ी, तो मैं दङ्ग रह गया। धामिन-जाति का एक मोटा साँप ज्वार के तीन पेड़ों से लिपटा हुआ था। ढाइ-तीन ग़ज़ का लम्बा होगा। उस के फन से रुधिर बह रहा था। एक आँख उस की गायब हो चुकी थी। ज्वार के पेड़ों से लिपटा हुआ धीरे-धीरे फुसकार रहा था—फी ३ (प्लुत) फी ३। मानो कह रहा था—ज़ालिम अब तो छोड़ दे—मुक्ति दे। मैं हारा, तू जीता। तोबा है, हज़ार बार, जो अब मैं तेरे मार्ग में आऊँ, पर उस का शत्रु था ख़लीफ़ा जो विजयी सेनापति की भांति चंगुल में आए हुए अपने शत्रु को छोड़ने वाला न था। ख़लीफ़ा की कुछ धज ही निराली थी।

क्रोध में वह आपे से बाहर था। उस का शरीर दुगुना प्रतीत होता था। साँप ने तो मुझे देख लिया था, पर अपनी वर्तमान परिस्थिति में वह मुझे अपना त्राता समझता होगा। मैं ने जान बूझ कर अपना सिर आगे बढ़ा दिया। ख़लीफ़ा एक दम खेत में भाग गया। सांप जहां का तहां त्रिशंकु की भाँति टँगा था। ख़लीफ़ा के कारनामे देखने के लिये मैं छिपकर आगे निकल गया और पास वाले आम के पेड़ पर चढ़ गया। थोड़ी देर में ख़लीफ़ा साहब तशरीफ़ ले आये, पर थे रुद्र रूप में। दाएँ-बाएँ देख कर शत्रु की स्थिति देखी। साँप का फन उस की पहुँच से दूर था। ज्वर के पेड़ पर वह चढ़ नहीं सकता था। साँप का एकमात्र आश्रय था अपने फन को न्यौले से दूर रखना, सो ज़मीन से वह दो गज़ ऊँचा और पेड़ से अलग था। सांप तो पेड़ों से लिपटा हुआ था, पर उस ने अपना फन पेड़ से दूर रखा था। चोट से बचने का उपाय ही यही है कि चोट की पार से दूर रहा जाय और बचाव के सभी साधनों को प्रयोग में लाया जाय। दुखी साँप ने इसी लिए अपना फन दूर रखा था, खलीफ़ा पुराना खिलाड़ी था। उस ने ऐसे अनेक रण जीते होंगे। वह कोई नौसिखिया नहीं था। फन तक पहुंचने का कोई साधन न पाकर वह उछल कर उस की पूँछ पर चढ़ गया और आगे को बढ़ा, पर साँप ने एक दम अपनी पूँछ पलट कर उस को गुंजलक में फँसाना चाहा। ख़लीफ़ा इस चाल को ताड़ गया और वहीं से नीचे कूँद पड़ा। इसी प्रकार उस ने बीस-पचीस बार ऊपर चढ़ने का प्रयत्न किया, पर प्रत्येक बार उसे विफल होना पड़ा। अन्त में एक बार वह तीव्र गति से ऊपर चढ़ा और साँप के फन को जाकर पकड़ लिया और चब-चबा

डाला। न्यौले और साँप के बोझ से पेड़ झुक गये और ख़लीफ़ा के पैर ज़मीन पर टिक गए। साँप इतना बड़ा था कि यदि किसी प्रकार वह न्यौला को गुँजलक में पकड़ पाता तो उस का भर्ता कर देता, पर यदि कि जो कठिनाई थी। न्यौला साँप के फन पर ही आक्रमण करता है। साँप उस को काटने और फँसाने का हज़ार प्रयत्न करता है, बर न्यौले के पैंतरों के आगे सांप की एक नहीं चलती। फिर ख़लीफ़ा ऐसे युद्धों में निपुण था। फन को मुँह में पकड़ लिया। अब उस के सामने प्रश्न था लिपटे सांप को पेड़ों से खींचना। रुक-रुककर, अपनी संचित शक्ति को लगाकर वह सांप को खींचता था। ढंगों से प्रतीत होता था कि नाग-पाश को खोलना कोई सरल काम नहीं, पर न्यौला डटा था। न मालूम कितने बार उस ने साँप को खींचा। उधर साँप का सम्पूर्ण फन ख़लीफ़ा के मुँह में था। रुधिर से पेड़ और न्यौला रंजित थे। इतनी देर के तुमुल युद्ध ने साँप की शक्ति को क्षीण कर दिया और वे कड़े बन्धन जिन से साँप पेड़ों पर लिपटा हुआ था, ढीले पड़ गए, और साँप की लोथ नीचे गिर गई। ख़लीफ़ा ने तनिक विश्राम लिया और इधर-उधर देखकर फिर खींचने में लगा और खींच कर उस को घास में आम के पेड़ के नीचे ले आया और खाने लगा। एक-तीसरे भाग से वह सन्तुष्ट-सा हो गया। शेष को वह खेत में घसीट ले गया।

× × × ×

तीन-चार दिन उपरान्त साँप का पंजर आम के वृक्ष के नीचे मिला। खलीफ़ा के मैं ने अनेक हाथ देखे थे, पर ख़लीफ़ा-सर्प के तुमुल-युद्ध से मेरी यह धारणा हो गई है कि

न्योला बाँका लड़ाका है और यदि कहीं वह बिल्ली के बराबर होता, तो शेर और बाघ को भी लड़ाई में छका देता।

(विशाल भारत, अगस्त १९३१)

———

भोजन भट्ट

(श्रीयुत अन्नपूर्णानन्द)

जिन पण्डित जी को मैं ने ब्रह्म भोज के लिये निमन्त्रित किया था उन का संक्षिप्त परिचय यहाँ पर दे देना उचित होगा। इन का नाम है जङ्गम चौबे, जो इन के लिए बिल्कुल अनुपयुक्त है; क्योंकि जङ्गम महाराज जब खाने के लिये बैठ जाते हैं तो सोलहों आने स्थावर हो जाते हैं। इन को खिलाने से चार ब्राह्मण खिलाने का फल होता है, क्योंकि ये क़रीब—क़रीब उतना ही खाते हैं जितना चार साधारण ब्राह्मण या आठ साधारण मनुष्य खा सकते हैं। जब ये खड़े होते हैं तो इन की तोंद दो क़दम आगे बढ़कर खड़ी होती है और चलते है तो दो क़दम आगे-आगे चलती है। बगल में एक विहङ्गम सी झोली ये सदा लटकाए रहते हैं। जिस में पोथी, पत्र, रोरी, जनेऊ, अबीर, बुक्का, चन्दन, तिल, धूपबत्ती, दियासलाई, गोमुखी, रामरज, कुशा, नारा, पञ्चपात्र, आचमनी, सत्यनारायण की बटिया, भङ्ग की पुड़िया, सुरती, चूना, सुँघनी और बहुत सी और अलाय-बलाय भरे रहते हैं; लेकिन अगर कोई पूछ बैठता है कि पण्डित जी, झोली में क्या रक्खे हो, तो झट कहते हैं कि -'बच्चा! इस झोली में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष भरा है, और का है।"

पण्डित जी अकेले नहीं थे, उन के साथ एक पूँछ भी थे। मेरे पूछने पर कि ये कौन हैं पण्डित जी ने उन का परिचय इन

शब्दों में दिया—"भैया! इन के हमरे कुछ भेवद्दी लागत है, ई गांव से आय पड़े रहे, हम कहा कि कहां चूल्हा सुलगइ हैं, जजमान के दरबार बना रहै, इहौ पूड़ी-कचौड़ी के घाट उतरि जैहैं, हम का सुचित से बैठाय के खियाय दिहौ, इन का परोसा देके बिदा करौ।"

मैं ने पण्डित जी से पूछा—"महाराज, इतनी देर क्यों लगायी, अब ढाई बजने चाहता है।"

जङ्गम महाराज ने बैठते-बैठते कहा—"भैय्या! देर तो सच्चौं हो गयी, आपो लोगन के बड़ी तकलीफ भई, पर का करैं, ऐसे फेर में फँस गये रहे कि कुछ कहै की बात नाहीं। एक ठो बूढ़ बङ्गाली मरै के अँटका रहा, हम के बुलाइस गऊ-दान देवै के। हम लपके लपके पहुंचे और सब सराजाम ठीक करवा कि इतने में एक बैद आय पड़ा और बुढ़वा क कौनो दवाई घोटाय दिहेस। आप कहे न पतिएहो, बुढ़वा तौ फिर से आंख खोल दिहेस और लगा टुपुर टुपुर बोलै। हम के रस्ता बताइस कि महाराज, आप जाव, अब आज गऊदान न देव। हम के तो भैय्या, ई उमेद पावत है कि ई जौन दयू कै सँवारल बैद आवा है कि बुढ़वा के फिर से टपटेल कै देइ। का कही, बदा की बात, ऐसी नगद गऊ हाथ में आय के निकस गई। आखिर बुढ़वा एक दिन मरी जरूर पै आज नाहीं मरा। पण्डिताइन से हांक आये हई कि जात हैं तोहरे बदे गैया लियावै, देखीं अब उन का का जवाब देइत है।

मैं ने पण्डित जी को अपना पेट दिखा कर कहा—"महाराज, आप चिन्ता न करिये, गोदान देने की दशा मेरी भी हो चली है।"

"अरे राम राम राम, ई कौन भाखा बोलत हौ। भगवान करे आप सदा सोहागिन बने रहौ.........अरे भूल गयन, कहै क तातपरज ई कि सदा परसन्न बने रहौ। बरबसै गोदान क नांव लेत हौ, हम लोगन के आगे अभी छोकरा हौ।"

"महाराज, छोकरा ज़रूर थे पर भूख ने सुखा के छुहारा बना डाला।"

"अच्छा बच्चा ! अब ई सब बात राहे दो। भोजन की सामग्री सब परस्तुत होय तो शुभस्य शीघ्रम् करा जाय, विलम्ब किये से कौन लाभ।"

इस के बाद जिस तत्परता से हम लोगों ने पण्डित जी को भोजन कराने का प्रबन्ध किया, वह दृश्य देखते ही बनता था। सब को यही धुन थी कि पण्डित जी जल्दी खाने बैठें, हम सभी पीढ़ा-पानी रखने में जी-जान से जुट गये पलक भांजते सब इन्तज़ाम हो गया, मैं दौड़ कर पण्डित जी को अन्दर लिवा आया और छोटे भाई ने खुद अपने हाथों से पण्डित जी के धूल-धूसरित पाद-पद्मों का प्रक्षालन किया।

पण्डित जी पालथी मारकर आसनी पर बैठ गये और उन के सामने थाली रख दी गई। उन्हों ने थाली पर एक तीव्र समालोचना की दृष्टि डाली और देखने वालों को अनुमान हुआ कि जो कुछ देखा उस से सन्तुष्ट भी हुए, क्योंकि उन के चेहरे पर एक अपूर्व जुन्हाई-सी छा गयी। मैं ने कहा—"पण्डित जी अब लक्ष्मीनारायण करिये !" बस कहने की देर थी, हाथ की अँगुलियों ने थिरक-थिरक कर थाली में नाचना शुरू किया। और मुँह ने चपर चप्पर से सुर भरना शुरू किया। कौर को तरकारी में लथेरने और फिर उसे गोलियाकर गाल

में ठूँसने के दृश्य कुछ अजीब कौतुक पैदा कर रहे थे। कभी-कभी किसी बड़े ग्रास को तर्जनी उँगली से बाल में गुलेलते थे, और अगर कोई बहुत बड़ा ग्रास मुँह तक पहुँच गया तो उसे आधा काट कर खा लेते थे और आधा थाली में रख देते थे। पहले आधे को ख़तम करके दूसरे आधे को भी उठा कर मुँह में रख लेते थे।

एक निवाले को दहिने गाल से बाएँ गाल में खदेड़ते हुए पण्डित जी ने कहा—"बच्चा, थोड़ा रामरस तो देव!" मैं ने थोड़ा सा नमक थाली में डाल दिया। थोड़ी देर के बाद पण्डित जी ने फिर कहा—" बच्चा, दस-पांच ठो रामभँवरी तो देव!"

रामभँवरी? यह किस चीज़ का नाम है? मैं ने तो यह नाम कभी नहीं सुना था। मैं ने लबेदुआ को अलग बुलाकर धीरे से पूछा—"अबे, रामभँवरी किस चीज़ को कहते हैं, जानता है?" उस ने कहा-"साहब, हमैं का मालूम कि रामभँवरी काव कहात है। जब आप पढ़ा-लिखा होय के नाहीं जानित तौ हम गँवार मनही का जानी। आप तो भला बी० ए० फेल हैं, हम तो कुछहू नाहीं फेल हैं।" मैं ने छोटे भाई से भी पूछा—"क्यों जी, जानते हो रामभँवरी किसे कहते हैं?" उस नालायक़ ने कुछ उत्तर तो दिया नहीं, उल्टे मुझे ताना देना शुरू किया—"मैं कहता था कि आप विशारद परीक्षा पास कर लीजिये, पर आपने मेरा कहा न माना। विशारद होते तो रामभँवरी शब्द के अर्थ जानते न होते।"

इस ने अच्छा याद दिलाया। मेरे घर के बग़ल ही में एक विशारद रहते थे। मैं दौड़ा हुआ उन के यहां रामभँवरी का

अर्थ पूछने गया। उन्हों ने बताया कि रामभँवरी उस वस्तु को कहते हैं जिसके चारों ओर श्री रामचन्द्र जी मोहित होकर भँवरी—अर्थात् चक्कर—लगावें। यह अर्थ मुझे ठीक नहीं जँचा इस लिए मैं ने उन से कहा कि आप का बताया हुआ अर्थ कुछ ग़लत सा मालूम पड़ता है। मेरे मुख से इतनी बात सुनकर वे बड़े लाल-पीले हुए और कहने लगे—"मेरा बताया हुआ अर्थ यदि ठीक न होगा तो मैं हिन्दी भाषा की दुम में पलीता लगा दूँगा और अपनी मूँछों को चक्र सुदर्शन से मुड़वा डालूँगा। चलिये, मैं आप के साथ चलता हूँ, मेरे सामने आप पण्डित जी से रामभँवरी का अर्थ पूछिए।"

मैं इन को साथ लेकर लौट आया और पण्डित जी से पूछा कि—"महाराज, आप ने रामभँवरी मुझ से मांगी, पर मैं तो जानता ही नहीं कि रामभँवरी किसे कहते हैं। कृपा करके बताइए तो मैं ले आऊं।" पण्डित जी ने मेरी अज्ञानता पर मुसकराते हुए कहा—"देखो ई का थरिया में रामभँवरी रक्खी है। रामभँवरी कहत हैं जलेबी को; समझे!"

मैं ने अपने विशारद पड़ोसी से कहा—देखा आप ने रामभँवरी माने जलेबी, और आप न जाने क्या अंट-संट माने बता गये थे।"

उन्हों ने कहा—"अजी यही तो मैं ने भी बताया था, रामभँवरी उस वस्तु को कहते हैं जिस पर मोहित हो कर श्री रामचन्द्र जी जिस की भँवरी लगावें, वा परिक्रमा करें। सिवाय जलेबी के, जो सुर-नर-मुनि सब को प्रिय है, ऐसी कौन सी चीज़ हो सकती है जो श्री रामचन्द्र जी के मन को हर ले और जो उन से अपनी परिक्रमा करावे? इसी लिये

रामभँवरी के माने जलेबी है। इतनी साधारण बात भी न समझो तो तुम से बढ़ कर घनघोर घोंघा संसार में कोई न होगा।"

विशारदों के मुँह लगने से 'जीते कछु शोभा नहीं औ हारे निन्दावाद' होता है। इसी लिये मैं ने बात का बतङ्गड़ नहीं किया, चुप रह गया। पर जो कुछ भी हो मुझे एक ऐसा नया शब्द मालूम हो गया जिसे बाबू श्यामसुन्दरदास जी भी न जानते होंगे, यद्यपि उन्हें डिक्शनरी लिखने और लिखाने का व्यसन-सा होता जा रहा है। रामभँवरी माने जलेबी, रामभंवरी माने जलेबी, मैं घोखने लगा। रामरस माने नमक तो मैं जानता था पर रामभँवरी माने जलेबी आज मालूम हुआ। बाद को मुझे पता चला कि पण्डितों में इस तरह के और भी कई शब्द बरते जाते हैं जैसे—

रामलड्डू=मोती चूर
राम चक्का=दही बड़ा
रामलकुटी=छड़ी
रामपनहीं=खड़ाऊँ
रामचरचा=भोजन
रामकटोरा=पुरवा (कुल्हड़)
रामघटघट=बूटी
रामफक्की=सुरती, चूना
रामठिकरा=पैसा
रामसलामी=दक्षिणा
रामकिचकिच=पूजा पाठ

इत्यादि। इन शब्दों को सुन कर ख्वाहमख्वाह यह

चिन्ता हृदय में उत्पन्न होती है कि जैसे ये लोग जलेबी को रामभँवरी को, पैसे को रामठिकरा, नमक को रामरस कहते हैं वैसे ही जजमान को कहीं रामजना न कहते हों।

खैर, थोड़ी देर बाद पंण्डित जी ने कुछ जल-शोषण किया। मैं ने समझा कि पानी पी रहे हैं तो अब पेट भर गया होगा। इस लिये मैं ने बड़ी प्रसन्नता के साथ नौकर से पुकार कर कहा—"अरे लबेदुआ, पण्डित जी का हाथ धुला, पण्डित जी भोजन कर चुके।"

लेकिन ऐसा कहां। पंण्डित जी मेरे ऊपर भ्रूभङ्ग करते हुए बोले—"भैया की बात ! अरे अबहिनैं भोजन कर चुके। भोजन न हुआ, खेलवाड़ हुआ। बच्चा, अकुताव मति, अबहीं तौ—

अंट तर गयो, घंट तर नाहीं।
बड़े भण्डार, से भेटैं नाहीं ॥

यह सुनकर मेरा मुँह 'तोबड़ावत्' लटक गया और मैं भयभीत नेत्रों से पण्डित जी की मुखरूपी कन्दरा को निहारने लगा।

[मेरी हजामत]

———

उत्तम शील

(पं० माधवराव सप्रे, बी० ए०)

'शीलं परं भूषणम्' भर्तृहरि ।

जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिये जितने साधन आवश्यक हैं उन में उत्तम शील का आसन बहुत ऊँचा है । इतना ही नहीं, बल्कि यह कहने में भी कोई अत्युक्ति न होगी कि इस विजय के लिए बुद्धिमानी, ओहदा तथा धन-सम्पत्ति की अपेक्षा उत्तम शील की अधिक आवश्यकता है । बहुधा देखा गया है कि सम्पत्तिमान् तथा शिक्षित मनुष्य भी उत्तम शील के अभाव में अपनी उद्दण्डवृत्ति के कारण अपमानित और नष्ट हो जाता है, और धनहीन तथा अल्प शिक्षित मनुष्य शीलवान् होने के कारण समाज में पूज्य माना जाता है । जिस मनुष्य में उत्तम शील होता है उसे अपने विषय में दूसरों से सिफ़ारिश कराने की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि उस का सिफ़ारिश करने वाला स्वयं उस का शील है । विदेश-यात्रा में और अपरिचित मनुष्यों के बीच में किसी मनुष्य का सब से श्रेष्ठ सहायक केवल उस का शील ही हो सकता है । यह प्रति-दिन देखा जाता है कि कोई मनुष्य चाहे वह कितना भी उच्च-उद्देश्य-युक्त और सम्यक् रीति से लिखा पढ़ा हो—जब किसी समाज में असभ्यता का आचरण करने लगता है तब उस को चौबे से दुबे बनना पड़ता है । सब लोग ऐसे मनुष्य की संगति का त्याग करना ही अधिक पसन्द करते हैं ।

अमुक मनुष्य कैसा है, यह बात इस से नहीं जानी जा सकती कि वह क्या कहता है; या कौन-सा काम करता है। इस बात को जानने के लिये यह देखना चाहिए कि वह मनुष्य किसी काम को किस रीति से करता या कहता है। उस की कहने या करने की रीति से उस के चरित्र का—उस के शील का—पूर्णतया पता लग सकता है। कोई मनुष्य जब कुछ कहता या करता है उस समय उस के बोलने, देखने, हिलने, डुलने या अन्य कर्मों से उस का आंतरिक और स्वाभाविक भाव आप-ही-आप मालूम हो जाता है। किसी मनुष्य पर अल्पधन-सम्बन्धी कृपा दिखलानेसे वह उतना प्रसन्न नहीं होगा जितना वह उस सज्जनता से होगा जो कि उस के साथ अल्प धन-देते समय दिखलाई गई हो। यदि किसी कठोर वचन के साथ कुछ द्रव्य दिया जावे तो वह कभी प्रसन्न नहीं होगा। इस से स्पष्ट है कि द्रव्य उस की प्रसन्नता तथा कृतज्ञता का उतना बड़ा कारण नहीं है जितना कि उसे द्रव्य देने का तरीका है। इस के विपरीत यह भी देखा जाता है कि यदि किसी मनुष्य की इच्छा को पूर्ण न भी कर सकें और हम उसे नम्रतापूर्वक टाल भी दें तो वह कभी बुरा न मानेगा।

शीलवान् मनुष्य में यह गुण विशेष गुण होता है कि वह स्वयं प्रफुल्लित रह कर अपने साथियों को भी प्रफुल्लित बनाए रखता है। मामूली बात है कि यदि दो मनुष्य किस्से कहानी कहने के लिये बैठ जायँ और दोनों एक ही कहानी को कहें, तो सम्भव है कि उन में से एक की शैली अधिक मनोरञ्जक और चित्ताकर्षक मालूम होगी और दूसरे की शैली नीरस तथा आलस्यजनक होगी। इस का कारण यह है कि एक मनुष्य

तो उसे इस रीति से कहेगा कि सुनने वाले सब मुग्ध हो जाएँ परन्तु दूसरे में इस बात का अभाव रहेगा। तात्पर्य यह है कि उत्तम शील किसी मनुष्य को छोटी बड़ी सभी बातों में शीघ्र ही समाजप्रिय बना देता है।

नम्रता और सहिष्णुता शील के प्रधान अङ्ग हैं। सच्चा शीलवान् और सत्पुरुष वही है जो दूसरों की छोटी छोटी बातों और नाममात्र के अपराधों को उदारतापूर्वक क्षमा कर दिया करे। जो दूसरों की तुच्छ और भूल जाने योग्य बातों पर झट क्षुब्ध और क्रुद्ध हो जाता है, उसे इस बात की आशा कभी नहीं रखनी चाहिये कि दूसरे लोग उसे भी उस की क्षम्य उद्दण्डता तथा उच्छृङ्खल वृत्ति के लिये क्षमा प्रदान करेंगे। मनुष्य-समाज एक बृहत् न्यायाधीश है। इस में इतना सामर्थ्य अवश्य है कि वह अन्त में किसी की मनुष्य योग्यता का सच्चा निर्णय कर ले। इस लिये प्रत्येक मनुष्य को उचित है कि वह ऐसा आचरण कभी न करे जिस से अन्य लोगों को यह कहने का मौका मिल जाय कि वह मनुष्य नीच तथा स्वार्थवृत्ति का है। कोई कोई मनुष्य अपनी विद्वत्ता या धन के घमण्ड से अन्य लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं परन्तु यह उन की भूल है। आँखें खुलने पर उन को इस के लिये पश्चात्ताप करना पड़ेगा। दूसरों की गुप्त बातों को जानने का प्रयत्न करना, जान लेने पर उन्हें प्रकट कर देना, सम्भाषण करते समय अपनी ही खिचड़ी पकाते रहना और अपनी तारीफ़ करते जाना, अपनी बुद्धिमानी दिखाने के लिए दूसरे की बातों को व्यर्थ काटते जाना, किसी की कुछ न सुनना, बहुत ज़ोर से हँसना, पूज्य जनों का अपमान और हँसी करना, किसी नए अतिथि से असभ्य

आचरण करना या उस की ओर टकटकी लगाए रहना, दूसरों की ग़लतियों पर हँसना, इनाम या सम्मान पाने पर कृतज्ञता प्रकाशित न करना, दूसरे से जो प्रश्न किया गया है उस का उत्तर स्वयं दे बैठना—इत्यादि बातें ऐसी हैं जो मनुष्य के शील में बाधा डालती हैं। जो मनुष्य अपना हित चाहता है उसे इन से सदैव बचते रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

बहुत से होनहार पुरुष समाज में केवल इस लिये घृणित और अपमानित हो जाते हैं कि उन में दूसरों पर टीका टीप्पणी करने की आदत सी पड़ जाती है। दूसरों से अनुचित हँसी किये बिना इन का अन्न ही नहीं पचता। कोई कोई तो ऐसे महात्मा होते हैं कि वे अपने अच्छे से अच्छे मित्र को भी शत्रु बना लेने के लिये तैयार रहते हैं, परन्तु मज़ाक करने की अपनी बुरी आदत को नहीं छोड़ सकते। यथार्थ में देखा जाय तो जैसे किसी मनुष्य को अनुचित कार्य करने का अधिकार नहीं है उसी तरह उसे अनुचित हँसी करने का भी अधिकार नहीं है। इस से लाभ तो कुछ नहीं होता उलटी यह हानि होती है कि जो मनुष्य समस्त जीवन-भर तुम्हारा सहायक होता वह तुम्हारी मूर्खता के कारण सदा के लिये तुम्हारा शत्रु बन बैठता है। यदि मित्रता रूपी फलते फूलते पौदे को नष्ट करना हो तो उस के लिये हँसी दिल्लगी से बढ़कर विष कहीं भी नहीं मिल सकता। बौद्ध-धर्म में किसी के दिल को चोट पहुँचाना हिंसा माना गया है, पर सच तो यह है कि यह आत्म-हित का भी घातक है। इस लिये इन बातों में हमें सदैव सावधान रहना चाहिये। कोई कोई मनुष्य कहा करते हैं कि यह बातें तुच्छ हैं, इन से शील और सच्चरित्रता पर कुछ धब्बा नहीं लग सकता। परन्तु

स्मरण रहे कि चरित्र का अच्छा या बुरा होना इन्हीं तुच्छ बातों की अधिकता या न्यूनता पर अवलम्बित है। जिस तरह हम कौड़ी कौड़ी बचा कर कुछ समय में धनवान् हो सकते हैं उसी तरह हम छोटी छोटी बातों पर ध्यान दे कर सज्जन और शीलवान् भी हो सकते हैं।

उत्तम शील किसी व्यक्ति-विशेष के लिए ही आवश्यक नहीं है बल्कि यह एक ऐसा अमूल्य गुण है जिस के बिना मनुष्य किसी भी व्यवसाय में या किसी भी प्रकार की जीवन-यात्रा में सुखी और सफल-मनोरथ नहीं हो सकता। संसार में ऐसे बहुत से कुरूप, धनहीन और विद्याहीन मनुष्य हो गए हैं जो केवल शीलवान् और सदाचारी होने के कारण इतिहास के पृष्ठों को अलङ्कृत करके अपना नाम अजर अमर कर गये हैं। माननीय मिस्टर गोखले के विषय में कहा जाता है कि वे लोगों को अपनी उत्तम वक्तृत्व-शक्ति और विद्वत्ता से जितना प्रसन्न करते थे उस से कहीं अधिक वे उन लोगों को अपने शील से प्रसन्न किया करते थे और अपने विषय की ओर झुका लेते थे। जष्टिस रानडे में इतनी शक्ति थी कि वे कट्टर से कट्टर अपराधी से भी उस का अपराध स्वीकृत करा लिया करते थे। डी० ऐन० ताता ऐसे कार्यकुशल हो गये हैं कि उन को देखते ही उन की कम्पनी के नौकरों में कार्य करने की स्फूर्ति आ जाया करती थी। सर जमसेट जी यद्यपि पहले निर्धन व्यवसायी थे तथापि वे अपने मधुर-भाषण और अनुकरणीय शील के कारण अपार सम्पत्ति के स्वामी हो गये हैं। ऐसे और भी उदाहरण दिये जा सकते हैं। इन समस्त देश-रत्नों के जीवन हमें पुकार कर शीलवान् बनने का उपदेश दे रहे हैं।

कुछ लोगों में यह भ्रमात्मक धारणा पाई जाती है कि शीलवान्, नम्र तथा मिष्टभाषी पुरुष का दूसरों पर कुछ प्रभाव नहीं होता, अर्थात् उस का रोबदाब दूसरों पर नहीं जमता। परन्तु यह बिल्कुल मिथ्या है। सच बात तो यह है कि ऐसे मनुष्यों का जाति, समाज और देश पर इतना असर होता है, कि किसी प्रभुता-प्राप्त अधिकारी मनुष्य का भी नहीं होता। क्योंकि ऐसे मनुष्यों का रोबदाब और प्रभाव दूसरे मनुष्य के हृदय-पटल पर प्रेम के स्वाभाविक बन्धन से अङ्कित हो जाता है, परन्तु जो मनुष्य अपना प्रभाव दूसरों पर शक्ति का उपयोग कर के जमाता है वह प्रभाव शक्ति के ह्रास होने से नष्ट हो जाता है, अत एव यह चिरस्थायी नहीं हो सकता। नम्र, शील-वान् और मिष्टभाषी होना मानसिक दुर्बलता नहीं है, प्रत्युत वह एक ऐसी मानसिक शक्ति है जिस के सामने नीचता, कठोरता और दुर्जनता आदि पशु-वृत्तियाँ लाचारी से सिर झुकाया करती हैं।'

परन्तु ऊपरी और दिखावटी शील में इतनी शक्ति नहीं हो सकती। असल और नकल में भेद रहता है। सिवा इस के एक बात यह भी है कि ऐसे शील का भण्डा शीघ्र ही फूट जाता है। सभ्यता के तत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को पढ़ लेने से ही शील नहीं आ जाता, क्योंकि शीलवान् मनुष्यों को स्वार्थ और मानापमान के विचार का त्याग करना पड़ता है। मनुष्य का सच्चा शील ही उस के सांसारिक और पारलौकिक कल्याण का मुख्य साधन है। सच्चे शील की सहायता से ही मनुष्य को धर्म, यश, सम्पत्ति, ऐश्वर्य, ज्ञान, वैराग्य आदि सब गुणों की प्राप्ति होती है। इस विषय में महाभारत के शान्ति पर्व में एक

प्राचीन कथा है जिसे भीष्मपितामह ने युधिष्ठिर से कहा है। उस का सारांश यह है।

इन्द्र स्वयं ब्रह्मज्ञानी था। उस ने बहुतों को ब्रह्मज्ञान का उपदेश किया था, परन्तु जब वह एक समय अपने राज्य से भ्रष्ट हो गया और प्रह्लाद त्रिलोकी का स्वामी हुआ, तब उस ने अपने गुरु बृहस्पति जी से कहा—"मुझे बताइए कि मेरा श्रेय किस में है?" तब गुरु ने इन्द्र को आत्मज्ञान का उपदेश करके कहा कि श्रेय इसी में है। इस उत्तर से इन्द्र का समाधान नहीं हुआ। उस ने फिर प्रश्न किया—"क्या और भी कुछ अधिक है?" तब गुरु ने उसे शुक्राचार्य के पास भेज दिया। वहाँ भी वही हाल हुआ। शुक्राचार्य ने कहा, "मैं कुछ अधिक नहीं जानता, तुम प्रह्लाद के पास जाओ।" अन्त में राज्य-भ्रष्ट इन्द्र ब्राह्मणवेषधारी हो प्रह्लाद का शिष्य बन कर उन की सेवा करने लगा। एक दिन प्रह्लाद ने इन्द्र से कहा कि "शील ही त्रैलोक्य के राज्य पाने की सच्ची कुञ्जी है और यही श्रेय है। बस, इन्द्र का काम हो गया। प्रह्लाद इन्द्र की सेवा से प्रसन्न हो गए थे। उन्हों ने कहा, "वर मांगो।" ब्राह्मणवेषधारी इन्द्र ने यह वर मांगा कि आप मुझे अपना शील दे दीजिए। प्रह्लाद के "तथाऽस्तु" कहते ही उस के "शील" के साथ धर्म, सत्य, वृत्त, श्री, ऐश्वर्य आदि सब उस के शरीर से निकल कर इन्द्र के शरीर में प्रविष्ट हो गए। फलतः इन्द्र अपने राज्य को पा गया। इस कथा से पाठकों को शील का महत्त्व भली भाँति मालूम हो जायगा और यह भी ज्ञात होगा कि शील के विषय में हमारे पूर्वजों के विचार कैसे थे।

यदि उत्तम शील से सचमुच इतने लाभ हो सकते हैं, यदि उसे मनुष्य सम्पत्ति और यश बिना व्यय किये पा सकता है, यदि शील के द्वारा सचमुच तलवार से भी अधिक प्रभाव उत्पन्न किया जा सकता है, अधिक क्या कहें, यदि शील होने पर हमारी जीवन-यात्रा के सभी विघ्न-कण्टक दूर हो सकते हैं तो हमें उत्तम शील होने का प्रयत्न क्यों नहीं करना चाहिए? बात तो यह है कि "विद्या ददाति विनयं" के अनुसार सभी शिक्षाओं का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वे हमें चरित्रवान् और सुशील नागरिक बनावें। प्रिय विद्यार्थियो! तुम लोग देश के भावी स्तम्भ माने जाते हो। तुम सोचो तो सही कि बिना सज्जनता के कोई मनुष्य अपने देश का हित कैसे कर सकता है? थोड़ी ही अवस्था के उपरान्त देश और समाज के हित की बाग-डोर तुम्हारे हाथ में सौंप दी जायगी। फिर बिना उत्तम शील के क्या तुम अपने कर्तव्य को समुचित रीति से पूर्ण कर सकोगे? इसी लिये देश-हित-चिन्तकों को विद्यावान् और कर्तव्यवान् बनने के साथ ही शीलवान् बनने की भी अवश्यकता है। देखिए, हमारे राजयोगी भर्तृहरि जी क्या उपदेश देते हैं—

"ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमः।
ज्ञानस्योपशमः श्रुतस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः॥
अक्रोधस्तपसः क्षमा प्रभवितुर्धर्मस्य निर्व्याजता।
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम॥"

सारांश यही है कि जीवनसंग्राम में सफलमनोरथ होने के लिये शील एक ऐसा उपाय है जो प्रत्येक मनुष्य के स्वाधीन है। यथार्थ में शीलवान् होना अपने ही ऊपर अवलम्बित है।

शीलवान् मनुष्य को अपने बाह्य आचरण तथा आन्तरिक मनोभावों पर भी ध्यान देना चाहिए। जिस प्रकार प्रसन्नता नम्रता, सहिष्णुता, उदारत आदि उच्च भाव आवश्यक हैं उसी प्रकार "किसी की अनुचित हँसी न करना" ऐसी छोटी छोटी बातें भी आवश्यक हैं। शील ही मनुष्य का सच्चा जीवन-चरित्र है। इस का अभ्यास छात्रावस्था से ही होना चाहिए। बड़ी उमर में शील का बदलना कष्टसाध्य और कभी कभी तो असम्भव भी हो जाता है।

(जीवन-संग्राम में विजयप्राप्ति के कुछ उपाय)

लाहौर में रावी का उषाकालीन भ्रमण

(श्री सन्तराम बी० ए०)

हिन्दुओं का जल से विशेष प्रेम है । इन के तीर्थ और तपोवन प्रायः सब-के-सब जल ही किनारे पर हैं । हमारा ख़्याल है कि हिन्दुओं के समान स्नान करने वाली जाति संसार में और दूसरी नहीं । करोड़ों हिन्दू ऐसे हैं जो बिना स्नान किये अन्न-जल नहीं ग्रहण करते । एक दिन एक मुसलमान हकीम जी ठीक ही कह रहे थे कि हिन्दू-रोगी चिकित्सक से जिस बात की बार बार आज्ञा माँगता है वह स्नान है। मुसलमान रोगी कहता है, हकीम साहब, मुझे एकाध बोटी मांस खाने की या कम-से-कम उस का रस ही पीने की आज्ञा दे दीजिये। इस के विपरीत हिन्दू कहता है । हकीम जी स्नान किये बिना मुझे भूख ही न लगेगी और नहीं तो हाथ-पैर धोने की तो आज्ञा अवश्य दीजिये। इस छोटी सी बात से दोनों धर्म्मों के मानने वालों का मनोभाव स्पष्ट मालूम हो जाता है।

हिन्दू-स्त्रियों में कार्त्तिक-स्नान की बड़ी महिमा है। बच्चो-बूढ़ी सभी कार्त्तिक-स्नान करती हैं । जिन ग्रामों अथवा नगरों के निकट नदी है, वहाँ की स्त्रियाँ प्रातःकाल उठकर वहीं नहाने जाती हैं। यदि नदी नहीं होती तो वे कूप या वापी पर ही शरीर-प्रक्षालन कर लेती हैं । कहें तो कह सकते हैं कि जल धार्मिक हिंदुओं के प्राण-स्वरूप है। हिंदू-स्त्री दरिद्र-से-दरिद्र भी क्यों न हो, उस के तन पर मैले-कुचैले चिथड़े

ही क्यों न लटक रहे हों, परन्तु वह नित्य सवेरे स्नान ज़रूर करेगी। ईसाई और मुसलमान स्त्रियों में बनाव-चुनाव का भाव हिंदू स्त्री से बहुत अधिक है। वे शरीर के सौंदर्य पर हिंदू-स्त्री से कहीं अधिक ध्यान देती हैं। परन्तु उन में नित्यस्नान करने वाली सौ पीछे एक भी न मिलेगी। उन का "गुसल" विशेष अवसरों पर ही होता है। रोज़ तो वे साबुन से हाथ-मुँह धो कर तेल ही चुपड़ा करती हैं। उन को भीतरी शुद्धि की अपेक्षा बाहरी चमक का अधिक ध्यान रहता है। खेद है कि अंगरेजी स्कूलों में पढ़ने वाली हिंदू-लड़कियाँ भी अब उसी लहर में बहने लगी हैं। दैनिक स्नान को छोड़ कर अब वे भी स्कूल जाने से पहले पोमेड और पौडर से मुखमण्डल को पोतना आवश्यक समझने लगी हैं।

किसी समय रावी लाहौर के किले के नीचे बहती थी। परन्तु अब कोई दो मील परे हट गई है। उस के तट तक नगर से एक पक्की सड़क गई है। पहले तो यह रास्ता उजाड़-सा था, शीशम का घना जङ्गल फैला हुआ था। परन्तु अब कुछ समय से सड़क के दोनों ओर मकान बनने आरम्भ हो गए हैं और आशा होती है कि शीघ्र ही नदी तक सारा मार्ग आबाद हो जायगा। इस सड़क पर लोगों ने भजन-पूजा आदि के लिए देवालय बनवा लिए हैं, साथ ही कुएँ भी। एक वेद-मन्दिर और दूसरा बिहारी-भवन, दो प्रसिद्ध जगह हैं। यहां लोग व्यायाम, स्नान और सन्ध्या-वन्दन करते हैं।

लाहौर ऐसी जनाकीर्ण महानगरी में रहते हुए प्रातःकाल वायु-सेवन के लिए न निकलना रोग और मृत्यु को अपने यहाँ निमन्त्रण देना है। मैं जब से लाहौर आया, रोज़ सवेरे नदी पर

जाता हूँ। मैं पांच बरस से देख रहा हूँ कि जो लोग सन् १९२२ में नदी पर जाते थे वही अब भी जाते हैं। इन में कुछ लोग ऐसे हैं जो बारहों महीने निरन्तर प्रातःकाल नदी पर पहुँचते हैं। इन पर वर्षा और शीत का कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। परन्तु इन की संख्या है बहुत थोड़ी। इन से भी अधिक संख्या उन लोगों की है जो ग्रीष्म और वर्षा ऋतु में ही जाते हैं। पौष माघ की कड़कड़ाती सरदी में इन के दर्शन नहीं होते। इन से भी बढ़ कर संख्या उन फसली बटेरों की है जो रविवार, सक्रांति या अमावस्या आदि किसी विशेष दिन ही नदी की मछलियों को दर्शन देने जाते हैं। लाहौर में मुसलमानों की संख्या हिन्दुओं से अधिक है, परन्तु नदी पर जाने वालों में रूमी टोपियों और बुरकों की शकल क्वचित् ही देख पड़ती है।

पाठक, चलिये आज प्रातःकाल आप को भी अपने साथ रम्यतटी रावी पर ले चलें। शौचादि से भी वहीं निवृत्त होंगे। कोट और बूट पहनने की आवश्यकता नहीं। मेरी तरह आप भी धोती और क़ुमीज़ पहन कर नङ्गे सिर चलिये। सभ्यता का आडम्बर करने की कोई आवश्यकता नहीं। वह देखिये हाथ में लम्बे लम्बे डण्डे लिए और बगल में आसन दबाए प्रौढ़ अवस्था के पुरुषों का एक दल जा रहा है। आप जानते हैं, ये लोग कौन हैं? अच्छा तनिक ठहरिये। आप को अभी मालूम हो जाएगा। यह लीजिये, "नमस्ते महाराज!" के नाद ने तड़के की निस्तब्धता को एक दम भङ्ग कर दिया। अब आप समझे। ये आर्य-समाजी हैं। नदी-तट पर स्नान-संध्या करने जा रहे हैं। इन में कई अच्छे भजनीक भी हैं। अभी आप को "ईश्वर का जप जाप रे मन" और "जय जय पिता परम

आनन्द दाता" का मधुर स्वर सुनाई पड़ेगा।

ज़रा पीछे मुड़ कर देखिये ! नव-युवकों की एक मण्डली बड़े जोश से गाती हुई चली आ रही है। ध्यान से सुनिए ये क्या गाते हैं—"मेरा रङ्ग दे नाम विच चोला—यह रङ्ग बड़ा अनमोला।" इन के साथ के कुछ लोग एक दूसरे ही स्वर में "जंप प्यारिया सच्चा नाम ओंकार दा" गा रहे हैं। ये सब युवक जोशीले आर्य-समाजी हैं। देखिये उन के हाथ में मोटे-मोटे डण्डे हैं। थोड़ी थोड़ी देर बाद "ओ३म्' और "नमस्ते" का घोष भी करते जाते थे।

"जय सीताराम ! जय सीताराम !" घुटनों तक धोती सिर पर दो-तीन पेंच का साफ़ा और हाथ में डोरी-लोटा लिए ये तिलकधारी सज्जन जो "जय सीताराम ! जय सीताराम" कहते जा रहे हैं, कौन हैं? ज़रा ठहरिए, इन का आप को तमाशा दिखाएँ। "भक्त जी, जय राधेश्याम।" भक्त जी, ठहर गए और बोले—"भले लोग, तू लड़ाई लेना चाहता है ? राधेश्याम कहा नहीं कि मुक्त हो गया नहीं। तू क्या चाहता है कि मैं मुक्त हो जाऊँ, और तू मेरा लोटा-डोरी छीन ले। सीताराम, सीताराम, कह। सवेरे, सवेरे, क्यों लड़ाई मोल लेता है।" इतने में एक और आवाज़ आई—"भक्त जी, राधेश्याम !" भक्त जी फिर बनावटी क्रोध से वही बातें कहने लगे। नदी तक पहुँचते पहुँचते न मालूम कितने मनुष्य इन्हें इसी प्रकार "राधेश्याम !" कह कर छेड़ेंगे।

इधर देखिए, एक भक्त जन कुत्तों और कौओं को रोटी के टुकड़े डाल रहा है। देखना, कौए कैसे उड़ उड़ कर टुकड़ों को दबोच रहे हैं। ऐसे कई भक्त नित्य बलिवैश्व-देव-यज्ञ किया करते हैं।

"दातून ! दातून !" इधर देखिये एक भक्त लाला जी सिर पर दातूनों का बड़ा सा गट्ठा रक्खे राह चलतों को दातूनें बाँटते चले आ रहे हैं। आप उच्च-स्वर से "दातून ! दातून !" पुकारते हैं। जिस को आवश्यकता होती है वह उन से दातून ले लेता है। कैसा उपकार का काम है ! पर कल मुझे एक बाबू को दातूनें बाँटते देख बड़ी हँसी आई थी। वह कह रहा था—दातून प्लीज़ !

वह सामने देखिये ! वृद्धा स्त्रियों की एक टोली नदी में स्नान कर के वापस आ रही है। सब के पैर नङ्गे हैं। काले घागरे पहने हुए हैं। हाथ में छोटी-सी लुटिया है और गले में रुद्राक्ष की माला लटक रही है। भक्ति में मग्न हो कर धीरे धीरे कुछ गाती आ रही हैं। चेहरों से शान्ति और पवित्रता टपकती है। ज़रा कान देकर सुनिये, ये क्या गा रही हैं। अहा, कैसा भक्ति-रस-पूर्ण भजन है ! भगवान् कृष्णचन्द्र के प्रेम में विह्वल हो कर कैसे हृदय स्पर्शी स्वर में कह रही हैं—

"अपनी भक्ति दे नन्दलाला, अरज करे व्रजनारी जी।"

मैं ने भी इन भक्तिमय देवियों के स्वर में स्वर मिला कर अनेक बार इसी रावी रोड़ पर "अपनी भक्ति दे नन्दलाला" का मनोहर भजन गाया है। इन की इस समय की तल्लीनता को देख कर ऐसा जान पड़ता है मानों साक्षात् भक्ति की मूर्तियाँ हैं।

इन्हीं के पीछे एक और मण्डली एक दूसरा ही भजन गाती आ रही है—

जीभा तेरी चाम की।
खेती बोले राम नाम की॥

तनिक उस शुभ्र-वसना महश्वेता देवी की ओर देखना। वह अकेली जा रही है। मैं कई बरस से उसे इसी प्रकार अकेली आते देखता हूँ। वह चुप-चाप जाती है। मुखमण्डल से आत्मिक शान्ति टपकती है। सुना है, यह नित्य योगाभ्यास करने जाती है।

अधिकांश नर-नारी गोशाला के पास से होकर शीघ्र ही नदी पर पहुँच जाते हैं। नदी पर कोई पक्का घाट नहीं है। एक जगह माई लोग स्नान करती हैं और उस से कुछ दूर हट कर पुरुष। पर हम उधर नहीं जाना चाहते। हम आगे जायँगे। पार्क की ओर भी नहीं मुड़ेंगे। सीधा पुल पर पहुँचेंगे वहाँ बड़ा अच्छा दृश्य है। पुल के पास जङ्गल है। यहीं उतर कर शौचादि से निवृत्त हो लीजिए। यहीं से वापिस लौटना होगा देर हो गई है। नहीं तो वह सामने शाहदरा में जहांगीर की समाधि तक चलते। चलो, लौटते हुए कुछ दूर तक दौड़ें। आध मील भी दौड़ लेने से पर्याप्त व्यायाम हो जाता है। सारे दिन आलस्य नहीं होता। पुल से लेकर गोशाला तक की दौड़ काफ़ी है।

अब आप को एक दूसरी प्रकार की सृष्टि नदी की ओर आती मिलेगी। वह देखिए, बुड्ढे बाबुओं की एक टोली टहलती-टहलती आ रही है। सब के सब बूट, कोट, पतलून और चश्माधारी हैं। हाथों में बेंत की छड़ियाँ हैं। इन में कई तो पैंशनर मालूम होते हैं, और बाकी कचहरी के मुलाज़िम जान पड़ते हैं। इन का वार्तालाप सुनने का कई बार संयोग मिला है। ये लोग प्रायः अमुक अंगरेज़ नरम हैं, अमुक अफ़सर सख़्त हैं, और अमुक जज साहब जाने वाले हैं, इत्यादि बातें ही किया करते हैं।

वह सामने देखिए, दो वृद्ध स्त्रियां आ रही हैं। उन के साथ एक नौ-दस बरस की बालिका है। इन स्त्रियों का वेश है तो पञ्जाबी, पर ये पञ्जाबी नहीं। ज़रा इन की बात-चीत सुनिए। एक कहती है—"उसे नमूनिया हुई गया।" दूसरी कहती है—"नहीं, प्रेग निकर आया।" अब आप समझे, ये कहाँ की हैं? 'ल' को 'र' में बदलने वाला देश संयुक्तप्रांत का पूर्वी भाग ही है। इन वृद्धाओं को मैं बहुत दिनों से नित्य नियम-पूर्वक प्रातः काल वायु-सेवानार्थ इधर आते देखता हूँ।

क्या कारण है, आज हर रोज़ से बहुत अधिक स्त्रियां आ रही हैं? फिर उन में बालिकाओं और युवतियों की संख्या भी बहुत है। आज कहीं सोमवती अमावाश्या तो नहीं?

देखिए, कैसे नाना वर्णों के सुन्दर वस्त्र धारण किए हुए हैं! कैसी निराली सजधज से चली आ रही हैं! कैसा अद्भुत रूप लावण्य है! इन नर-नारियों में कोई कोई रमणी तो इतनी सुन्दरी है जिसे देख कर यही कहना पड़ता है कि विधाता ने फुर्सत के समय बैठकर उस की रचना की है। परन्तु इन्हीं में कई एक के शरीर इतने बेडौल और स्थूल हैं कि उन्हें देखकर 'भङ्गियों की तोप' का स्मरण हो आता है।

सड़क की दाईं पटरी पर देखिए, कैसा विचित्र दृश्य है। एक लम्बी-चौड़ी और काली-कलूटी भयङ्कर मूर्त्ति गधे पर सवार आ रही है। उस की नाक में भद्दी सी लौंग है। एक हाथ में एक बहुत बड़ा हुक्का और दूसरे में एक मोटा और लम्बा डण्डा है। दोनों ओर टांगें फैलाए बड़े रोब से बैठी है। इस यवनी की विकराल काया को देखकर भय और विस्मय

दोनों होते हैं । कहाँ तो फूल के सदृश कुम्हला जाने वाली लवपुर की कोमलाङ्गी किशोरियाँ और कहाँ यह भीमकाय आसुरी-मूर्ति ! ऐसे परस्पर विरोधी नमूने इसी देश में सम्भव हैं ।

चलो, अब जल्दी जल्दी घर पहुँचे । अभी हमें व्यायाम करना बाकी है ।

[सरस्वती, जून १९२६]

अमरनाथ की यात्रा

(श्री शिवनारायण टण्डन)

अमरनाथ हिन्दुओं का एक बड़ा भारी तीर्थ-स्थान है। समुद्रतट से १८,००० फुट की उँचाई पर काश्मीर-प्रदेश की विशाल 'लीदरघाटी' में यह स्थान है। लीदरघाटी के अन्तर्गत एक सुन्दर गुफ़ा में हिम का एक शिवलिङ्ग बन जाया करता है और वही अमरनाथ महादेव हैं। ज्यों-ज्यों शुक्ल पक्ष में चन्द्रदेव पूर्णता के पथ पर अग्रसर होते हैं, त्यों-त्यों शिवलिङ्ग भी अपने आकार में पूर्ण होता जाता है। जब पूर्णिमा की परम मनोहर रजनी में कुमुदिनी-नायक अपनी षोडश कलाओं से प्रकाशित होते हैं तभी अमरनाथ जी का शिवलिङ्ग भी समूचा बन कर तैयार हो जाता है। प्रकृति-देवी की कैसी अनोखी कारीगरी है। देखकर आश्चर्य चकित होना पड़ता है। तिस पर विशेषता यह है कि जैसे जैसे कलाधर की ज्योति क्षीण होती जायगी। शिवलिङ्ग भी क्षीण होता जायगा और अमावस्या की घोर तिमिर रजनी में जब हिमांशु का अस्तित्व शेष नहीं रह जाता है तब मानो अपने परम मित्र की धवल कीर्ति को अदृश्य होते देख स्वयं देवाधिदेव भी अन्तर्ध्यान हो जाते हैं। बस, अमरनाथ जी का यही क्रम है इस भूतल पर जो बड़ी से बड़ी आश्चर्यजनक घटनाएँ दिखलाई देती हैं उन में अमरनाथजी का शिवलिंग एक विशिष्ट स्थान रखता है।

गिरिराज हिमालय के गगनचुम्बी उच्च शृङ्ग पर स्थित होने के कारण यह स्थान सदा हिम से आच्छादित रहता है। साधारणतः यहाँ की यात्रा करना असम्भव सा है। जब शरद्-ऋतु का अन्तिम काल और वसन्त का आगमन होता है, शनैः शनैः शीत की भीषणता क्षीण होने लगती है, बर्फ़ पिघलती है और मार्ग साफ़ हो जाता है तब वहाँ तक पहुँचना मानव-शक्ति से परे नहीं। बस तभी अमरनाथ की यात्रा आरम्भ होती है—शिवरात्रि के दिन शिवलिंग के दर्शन होते हैं।

इस अवसर पर सहस्रों की संख्या में दर्शनार्थी यात्री अमरनाथ जाते हैं। काश्मीर-राज्य की ओर भी यात्रियों की सुविधा के लिए कुछ कुछ प्रबन्ध हो जाता है। प्रत्येक यात्री को सरदी से सुरक्षित रखने के लिए (और खाद्य सामग्री बना सकने को) गले में लटकाने वाली एक-एक दहकती हुई अंगीठी, और बर्फ़ पर काम दे सकने वाली एक जोड़ी चर्म-पादुका दी जाती हैं—ये राज्य की ओर से बिना मूल्य दी जाती हैं। साधुओं और ग़रीबों को तो उतने दिन के खाने योग्य खाद्य-सामग्री भी दे दी जाया करती है। अमरनाथ के यात्रियों में कोपीनधारी, जटाजूटमण्डित भस्म रमाए साधुओं की बहुत बड़ी संख्या होती है। यहाँ काशी, हरद्वार, गंगोत्री, रामेश्वर और बड़ी दूर-दूर से आए हुए यात्रियों का समागम होता है। साधुओं में सन्यासी, नागा, वैरागी आदि प्रायः सभी अपने-अपने दल के झुण्ड के साथ अपनी-अपनी पताका उड़ाते श्री अमरनाथ जी जाते हैं। पौ फटते-फटते यात्री लीदर-घाटी की चढ़ाई आरम्भ करते हैं! चलने का मार्ग बड़ा कठिन है, चीड़ आदि के विकट जंगलों

के मध्य में प्रवेश करके जाना होता है। मार्ग निरा चढ़ाई का ही है। ज्यों-ज्यों यात्री ऊपर चढ़ता जाता है, हिमालय पर्वत की परम मनोहर प्राकृति की शोभा नेत्रों के आगे उमड़ती चली आती है। गिरिराज हिमालय अपने प्राकृतिक सौंदर्य के कारण बहुत ही मनोहर हैं। थोड़ी-थोड़ी सी दूर पर निर्मल जल के झरने अपना स्वाभाविक झर-झर शब्द करते हुए बह रहे हैं। चारों ओर विशालकाय पर्वत बर्फ़ का खोल ओढ़े निस्तब्ध भाव से खड़े हैं। पीत, हरित और अरुण वर्ण के रंग-बिरंगे फूल खिलकर उस स्थान की मनोहरता को कई गुणा अधिक बढ़ा देते हैं। कहीं-कहीं पहाड़ी नदियां अपने वज्र-निनाद से हृदय तक को कम्पायमान कर रही हैं। यहाँ के झरनों और नदियों का जल बहुत ही मिष्ट और स्वादिष्ट होता है। ये सब निरन्तर एक ही तरह का कोलाहल-पूर्ण शब्द करती हुई अहर्निश बहा करती हैं। न जाने, ये कब बही थीं और कब तक बहेंगी। शायद सृष्टि के आदि से अंत होने तक का इन का सम्बन्ध है। हम मानव ज़रा-सा उन्नत होते ही गर्व दम्भ और पशु वृत्ति के अधीन हो जाते हैं, किंचित् क्लेश प्राप्त होने पर जीवन का महत्त्व भूल बैठते हैं, पर ये जल के स्रोत इतने अगाध और गम्भीर हैं कि सदा एक ही चाल चला करते हैं। शायद तभी इन्हें अमरत्व प्राप्त हुआ है। ये रात-दिन अपने कार्य में व्यग्र रहते हैं, चाहे कोई देखे या न देखे, ये बराबर एकचित्त और एक भाव से अपना काम करते रहते हैं। झरनों के चारों ओर हरे-हरे बड़े-बड़े छायादार वृक्ष लगे हैं, जिन पर नाना प्रकार के पक्षी बैठ कर नित्य प्रति प्रभु का गुणगान किया करते हैं। कहने का तात्पर्य्य यह है कि अमरनाथ का मार्ग हर

तरह से प्राकृतिक शोभा का आगार है। कई घण्टों की चढ़ाई के बाद यात्री लीदर-घाटी के एक खुले मैदान में अपना पड़ाव डालते हैं। यात्री सदा सौ-पचास की तादाद में चलते हैं; क्योंकि हिंसक पशुओं का बड़ा डर रहता है। हां, जिस मैदान में पहला पड़ाव पड़ता है, वहां तरह-तरह की बहुत स्वादिष्ट पत्तियां मिलती हैं। साधु और निर्धन यात्री इन को उबाल कर खाते हैं, और इन को चिलम में रख कर फूँक लगाते हैं। चन्द्रमा के निर्मल प्रकाश में इस स्थान की शोभा बड़ी ही दर्शनीय हो जाती है। रात्रि भर यहाँ विश्राम कर यात्रियों के झुण्ड सूर्योदय होते होते फिर यात्रा आरम्भ कर देते हैं। यहाँ की चढ़ाई ठीक डगमगाती हुई सीढ़ी की तरह है, जिस पर काँपते, शीत से सिसकते, सी-सी करते यात्रियों के समूह के समूह डग बढ़ाते चले जाते हैं। रह--रह कर कोई-कोई 'अमरनाथ' चिल्ला देता है। हज़ारों कंठ-ध्वनियां 'अमरनाथ, श्री अमरनाथ' चिल्लाकर आकाश--पाताल एक कर देती हैं। ज्यों ज्यों ऊपर पहुँचिए, शीत की भीषणता बढ़ती जाती है। यहाँ हवा की कमी के कारण सांस लेने में कष्ट सा होने लगता है और बहुत शीघ्र शीघ्र सांस चलने लगती है। सायङ्काल ठीक बारह घण्टे के कष्टकारी सफ़र के बाद शेषनाग पहुँचते हैं उस समय ऐसा विदित होता है, मानो वर्षों के बाद विश्राम करने का अवसर मिला हो। 'शेषनाग' हिमालय-पर्वत की तराई में एक विशाल झील है, जो चारों ओर से गिरिराज-द्वारा सुरक्षित है। इस के वक्षःस्थल को जलयानों ने दलन करने का साहस कभी नहीं किया है और न व्यापार का कलरव ही अन्यान्य सागरों की तरह शेषनाग के तट को कूजित किया

करता है। यह परम शान्त स्थल है । शेषनाग का जल स्फटिक या दुग्ध के समान उज्ज्वल है। जल बड़ा ही स्वादिष्ठ, शीतल और स्वास्थ्य-वर्धक है। चांदनी रात में तो शेषनाग की लहरें हिलोरें मारती हुई गगन-चुम्बन करने का साहस करती हैं । शेषनाग भी एक तीर्थ है । अमरनाथ के जाने वाले यहाँ स्नान करते हैं और यथाशक्ति वरुणदेव की पूजा-अर्चना कर रात्रि भर यथा-तथा अमरनाथ-अमरनाथ जपते-जपते काट देते हैं ! यहां ग़जब का शीत होता है। एक तो बर्फ़ीले पहाड़ और खुला मैदान। तिस पर सन्नाटे की हवा—सब मिलकर नाड़ियों के रक्त-प्रवाह को रोक देने के लिये पर्याप्त है । सवेरा होते ही 'अमरनाथ, श्री अमरनाथ' की ध्वनि के साथ यात्रियों की ट्रेन फिर सीटी देती हुई चल पड़ती है । पहाड़ों से 'अमरनाथ, अमरानाथ' की जो प्रतिध्वनि निकलती है वह ऐसी मालूम पड़ती है, मानों असह्य यातनायों और कष्ट से जर्जरीभूत यात्रियों को गिरिराज सान्त्वना दे रहा हो कि पथिकगण ! घबराना नहीं—अमरनाथ जी अब सन्निकट ही हैं।

अमरनाथ की अन्तिम मंज़िल कष्ट की चरम सीमा है। शीत के मारे अङ्ग प्रत्यंग ठिठुरने लगते हैं । दृष्टि धुंधली सी पड़ जाती है। बर्फ़ के ऊपर चलना पड़ता है, जो कष्ट-दायक होने के साथ ही साथ बड़ा ही भयप्रद है, जिस में प्राणों तक का संशय रहता है। एक द्रष्टा ने अपनी आंखों देखी घटना का उल्लेख करते हुए कहा है कि मेरे देखते-देखते एक बुढ़िया का पैर बर्फ़ में जा फँसा ! ज्यों-ज्यों वह बेचारी उस में से निकलने का प्रयत्न करती थी, त्यों-त्यों वह नीचे धँसती चली जाती थी और पांच मिनट के अन्दर ही बुढ़िया का इस संसार

में कहीं अस्तित्व ही न रहा। दर्शन की विचित्र धुन में मतवाले यात्रियों ने एक बार उधर ताक कर भी न देखा, जैसे कुछ हुआ ही न हो। जिन के लिए सम्भव हो उन्हें सदा "डाडियों *" पर जाना चाहिए। मध्यम श्रेणी के आदमी "कँड़ियों" † पर भी जा सकते हैं। जिन बेचारों के पास कुछ नहीं है और जिन्हें अमरनाथ के दर्शनों-द्वारा मुक्ति प्राप्त करने में विश्वास है वे तो पैदल ही बर्फ़िस्तान को पार कर श्री अमरनाथ जा पहुँचते हैं। चलते-चलते झरनों, पहाड़ी नदियों और ऊबड़-खाबड़ भूमि को पार करते दूसरे दिन सायंकाल यात्री सूर्य देव को अपनी यात्रा का अन्तिम नमस्कार कर उस गुफ़ा में प्रवेश करते हैं जिस में श्री अमरनाथ जी का हिम-लिङ्ग है।

गुफ़ा में धुँधला-सा प्रकाश रहता है। उस में थोड़ी दूर चल चुकने के बाद एक कोने में बर्फ़ का श्वेतातिश्वेत 'हमलिंग' दिखाई पड़ता है। जिस के लिए इतने कष्ट सहन किये उस के दर्शन पाकर अपनी मनोकामना पूरी कर निःसन्देह यात्रियों की प्रसन्नता का पारावर नहीं रहता। जो वस्तु जितनी कठिनता से प्राप्त होती है उस की उपलब्धि से उतना ही आनन्द भी होता है। यात्री वहाँ पहुँच कर गंगा-जल, बिल्वपत्र और नाना प्रकार के पुष्पों से शिव जी की अर्चना करते हैं। अमरनाथ जी का मन्दिर (कहिए) या गुफ़ा शंकराचार्य्य के मठ वालों के अधीन है। दर्शनकाल में मठाधीश की ओर से

---

* यह एक आराम कुरसी की तरह होती है, जिसे चार आदमी उठाते हैं।

† कँड़ी को एक पहाड़ी पीठ पर लाद कर चलता है। इस का आकार कुछ कुछ बेंत की कुरसी की तरह होता है।

प्रति वर्ष यहाँ दो महन्त भेजे जाते हैं, जो यात्रियों को विधि-पूर्वक पूजा-अर्चन करने में सुविधा प्रदान करते हैं, और भेंट की हुई वस्तुओं को ग्रहण करते हैं। इस दिन रात्रिभर जागरण होता है। दूसरे दिन प्रातः काल अमरनाथ जी के फिर दर्शन कर अपने जीवन को कृतार्थ कर यात्रियों का टीड़ीदल उसी मार्ग से लौटना आरम्भ करता है। अब यात्री को चिन्ता नहीं होती, चाहे जीवन रहे या जाय। चाहे कोई बर्फ़ की शिला गिरकर उस का सिर चकनाचूर ही क्यों न कर दे। उस के लिए जीवन के महत्त्व की इति हो जाती है, क्योंकि उसे विश्वास होता है कि वह देवाधिदेव अमरनाथ का शुभ दर्शन कर अपने लिए मुक्ति का द्वार खोल आया है *।

[सरस्वती, सितम्बर १९२७]

---

* टाईम्स आफ़ इण्डिया के एक लेख के आधार पर।

ताजमहल

(श्री शिवनारायण द्विवेदी)

इस पृथ्वी के जितने बुद्धिमान् शिलिपयों के शिल्प-कौशल आश्चर्य के लिये प्रसिद्ध हैं, उन में आगरे का ताजमहल भी एक है। यह दाम्पत्य-प्रेम की उज्ज्वल पताका है। मुग़ल बादशाह शाहजहां की वेग़म की समाधि का नाम ताजमहल है।

सन् १५५६ ई० में अकबर, तेरह वर्ष की अवस्था में देहली के सिंहासन पर बैठा और १६०५ ई० में परलोकवासी हुआ। अकबर के बड़े पुत्र का नाम सलीम था। १६०५ ई० में जहांगीर के नाम से यह सिंहासन पर बैठा। अकबर के समय में तिरहान से ग़यासुद्दीन नामक एक मनुष्य अपने परिवार सहित भारत में आ रहा था। मार्ग में उस की पत्नी के एक सुन्दर कन्या हुई; किन्तु ग़यासुद्दीन की दशा इतनी निकृष्ट हो गई थी कि उस कन्या को मार्ग के एक ओर डाल कर वह चला गया। दैव-योग से एक व्यापारी वैश्य उधर से आ निकला और उस ने उस कन्या की प्राण-रक्षा की। कई वर्ष तक उस का पालन पोषण करने के बाद उस वैश्य को कन्या के माता पिता का पता लगा। तब उस ने वह कन्या उस के पिता को दे दी। भारत में आकर ग़यासुद्दीन अक़बर का बहुत कृपापात्र हो गया। उस की कन्या मेहरून्निसा भुवन-मोहिनी सुन्दरी थी। शाहज़ादे सलीम ने उस के साथ विवाह करना चाहा, किन्तु अकबर ने ऐसा न किया।

मेहरुन्निसा का विवाह शेरख़ां नामक एक अफ़ग़ान के साथ हुआ, जो सरदार बन कर उसी समय अपनी पत्नी-सहित बंगाल के वर्द्धमान ज़िले में चला गया था। १६०५ ई० में सलीम

सिंहासन पर बैठा और इस ने शेरख़ां को मरवा कर मेहरुन्निसा को अपने महल में बुलवा लिया। पाँच वर्ष के अनन्तर जहांगीर ने मेहरुन्निसा के साथ विवाह किया। विवाह के अनन्तर उस का नाम नूरजहां हो गया। रुपयों पर जहांगीर के नाम के साथ ही नूरजहां का नाम भी लिखा जाता था।

उक्त नूरजहां के भाई के एक कन्या थी, उस का नाम अर्जुमन्दबानू था। यह स्वरूप और गुण में नूरजहां के समान थी। इस का विवाह जमालख़ां एक मुग़ल उमराव के साथ हुआ था।

उस समय मुग़ल बादशाहों के महलों में 'खुशरोज़' नामक स्त्रियों का एक मेला होता था। शहर-भर की युवतियाँ उस मेले में नाना प्रकार की दूकान लगाती थीं। और अमीर उमराओं की स्त्रियां सौदा ख़रीदा करती थीं। इस मेले में कोई पुरुष नहीं जाने पाता था, किंतु स्वयं बादशाह की इस में रूप का बाज़ार पसन्द किया करते थे। इस मेले में अपनी स्त्रियों को भेजने के लिए प्रत्येक जागीरदारों, अमीरों और उमराओं के नाम परवाने जाते थे। इस मेले में सब की बहुएँ, कन्याएँ और बहिनें उपस्थित होती थीं। बहुत अच्छी तरह से दूकानें सजा कर युवतियां सौदा बेचती थीं और बादशाह ख़रीदा करते थे।

जहांगीर ने रत्न आदि ख़रीदने के लिए खुशरोज़ मेला किया था, उस में जमालख़ां ने अपनी स्त्री अर्जुमन्दबानू को भी भेजा था। जहांगीर के तीसरे पुत्र खुर्रम ने इस मेले में अर्जुमन्दबानू को ही सब से अधिक पसन्द किया था।

खुर्रम ने फिर अर्जुमन्दबानू को उस के घर न जाने

दिया। इस बात पर क्रोध करने के कारण जमालख़ां के लिए हाथी के पांव के नीचे दबा कर मार देने की आज्ञा हुई। स्त्री की विनती करने पर जमालख़ां की प्राण-रक्षा हुई, किन्तु फिर उस ने अपना मुँह किसी को न दिखाया। इधर १६२७ ई० में जहांगीर की मृत्यु हुई। पिता की मृत्यु के अनन्तर खुर्रम ने शाहजहां के नाम से राज्यदण्ड धारण किया तथा अर्जुमन्दबानू का नाम मुमताज महल रक्खा। अपनी पत्नी मुमताज महल को शाहजहां बहुत चाहता था इस ही के उपलक्ष्य में उस ने मुमताज महल की मृत्यु के अनन्तर आगरे में उस की विख्यात समाधि बनाई जो ताजमहल के नाम से प्रसिद्ध है।

मुमताजमहल की मृत्यु उस की सब से छोटी कन्या के प्रसव के समय में हुई थी। शाहजहां ने अपनी पत्नी के शव को बड़े समारोह से आगरे में जमुना के किनारे समाधिस्थ किया। यह महल एक चौरस भूमि पर बना है। चारों ओर ऊँचे ऊँचे दरवाज़े हैं। सदर दरवाज़े से भीतर जाने पर एक सुन्दर बाग़ीचा दीखता है। यह बग़ीचा शाहजहां के समय में अपूर्व था।

चहार-दीवारी के भीतर सफ़ेद पत्थर का बना हुआ ताज बहुत ही सुन्दर है। बाहर की अपेक्षा भीतर का काम और भी अच्छा है। दीवारों में जो अनेक प्रकार के लता पुष्प आदि बनाए हुए हैं, वे आज भी सजीव मालूम होते हैं। इसे कोई दो सौ वर्ष से अधिक होगए, किंतु यह आज भी वैसे का वैसा ही खड़ा है। किसी-किसी स्थान पर सजीवलता आदि बनाकर दस्तकारों ने अपनी विद्या का बहुत अच्छा परिचय दिया है। बहुमूल्य पत्थरों को तराश कर जो पत्थरों

में जड़ाई की गई है वह बहुत ही सुन्दर और मूल्यवान् है। बिना आंख से देखे उस के सौन्दर्य का ध्यान नहीं किया जा सकता। इस महल के सब से निचले भाग में भुवन-मोहिनी मुमताजमहल और बादशाह शाहजहां अपनी अन्तिम निद्रा में सो रहे हैं। जिस के स्वरूप की देश भर में ख्याति थी और जिसे देख कर शाहजहां अपने आप को भूल गया, वह विश्व-विजेता-सौन्दर्य आज महाकाल के गर्भ में है।

जिन कब्रों में शव हैं, वे नीचे के भाग ही में हैं; किन्तु उन की नक़ल ऊपर बनाई गई है। इन कब्रों में अनेक प्रकार के बहुमूल्य पदार्थ लगे हैं। ताजमहल में बहुत धन व्यय हुआ था। इस महल के प्रधान कारीगर का नाम ईसामुहम्मद था और इसे एक हज़ार मासिक मिलता था। प्रधान चित्रकार का नाम अमरनूदख़ां था, इसे भी एक हज़ार मासिक मिलता था। इस के अलावा टर्की, फ़ारस, देहली और पञ्जाब से बहुत से कारीगर बुलाए गए थे।

जयपुर और राजपूताने से सफ़ेद पत्थर, नर्मदा के किनारे से पीला पत्थर (इस का मूल्य एक वर्ग गज़ का ४७ रुपया), चार पर्वत से काला पत्थर (इस का मूल्य एक वर्ग गज़ का ९० रुपया है), चीन से स्फटिक पत्थर (प्रति वर्ग गज़ ५७० रुपया) आया था। इस के अलावा पञ्जाब से सूर्यकान्तमणि, बग़दाद से पद्मरागमणि, तिब्बत से नीलकान्तमणि, तथा सिंहल द्वीप से बहुमूल्य पत्थर और मोती आदि आए थे।

ताजमहल का बनवाना प्रारम्भ करने से पूर्व शाहजहां ने कारीगरों की परीक्षा इस प्रकार कर ली थी, कि सब कारीगरों से मुहरों की थैलियां जमुना में उठा कर फेंकने को कहा। जो

कारीगर मुहर फेंकने में झिझकता था, उसे शाहजहां पंक्ति में से निकाल देता था क्योंकि वह समझता था कि जो धन को पानी में नहीं फेंक सकता। वह बहुत धन लगा कर अपूर्व महल नहीं बना सकता। इस समाधि को बीस हज़ार कारीगरों ने २२ वर्ष में समाप्त किया था। इस में जो धन लगा है, उस की सीमा नहीं है। उस समय की बड़ी-बड़ी मणियां, हीरे, पन्ने आदि बहुमूल्य पत्थर शाहजहां ने इस महल में लगवाये थे। यह विख्यात है, कि शाहजहां के समान कोई बादशाह सम्पत्ति-शाली नहीं था।

ताजमहल गौरव की दृष्टि से अपूर्व है। जिस प्रकार हिमालय में सूर्योदय के दृश्य को बिना देखे कोई उसे नहीं समझ सकता, उसी प्रकार ताजमहल बिना देखे कोई उस का महत्त्व नहीं समझ सकता। ताजमहल महीन कारीगरी का नमूना है।

[प्राचीन कीर्ति वा सप्त आश्चर्य]

———

कोहनूर हीरा

(श्री चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा)

सन् १७३९ ई० में नादिरशाह ने देहली पर चढ़ाई की। उस समय देहली के तख़्त की रंगीले मोहम्मद शाह शोभा बढ़ा रहे थे। नादिरशाह ने कोहनूर की बड़ाई पहले ही सुन रक्खी थी। जब बादशाही ख़ज़ाने के सारे रत्न देख डाले गये और कोहनूर न मिला, तब नादिरशाह को बड़ी चिन्ता हुई। उस ने उसे बहुत ढुँडवाया, पर उस का कुछ भी पता न चला। अन्त में उस ने मुहम्मदशाह के महलसरा की एक लौंडी से पता लगाया कि उस हीरे को मुहम्मदशाह अपनी पगड़ी में रखता है और उस पगड़ी को कभी अपने सिर से अलग नहीं करता।

बहुत सोच विचार कर, नादिर ने एक उपाय निकाला। उस ने प्रकट किया कि एक दरबार कर के मैं मुहम्मद शाह को देहली के तख़्त पर बिठलाऊँगा। दरबार लगा और इस देश की पुरानी चाल के अनुसार पगड़ी बदलने का समय आया। मुहम्मदशाह पहिले तो चुप रहा, पर फिर और उपाय न देख उस को वह रस्म पूरी करनी पड़ी। पर उस ने अपने मन की घबड़ाहट को चेहरे पर न आने दिया। उस के चेहरे को देखकर, नादिर को उस हीरे के मुहम्मद की पगड़ी में न होने का सन्देह हुआ। इस लिए उस ने उसी दम दरबार बरख़ास्त कर दिया और उस पगड़ी को लिए हुए वह सीधा अपने महल में गया।

वहाँ जाकर ज्यों ही उस ने उस पगड़ी को खोला त्यों ही उस की दृष्टि उस प्रसिद्ध हीरे पर पड़ी। उसे देख वह मारे ख़ुशी के बोल उठा ; "कोहनूर" अर्थात् "प्रकाश का पहाड़"। इस प्रसिद्ध हीरे का नाम तभी से "कोहनूर" पड़ा है।

कोहनूर के नाम को लेते ही भारत का पुराना इतिहास आंखों के सामने नाचने लगता है और यह बात सिद्ध होती है कि कोहनूर न जाने कितनों के हाथों में गया और न जाने कितनों के हाथों अभी जायगा। "कोहनूर" संसार में अपने जोड़ का दूसरा हीरा नहीं रखता है। आज-कल वह भारतवर्ष से रूठ कर समुद्र पार चला गया है। पर यह बड़े आनन्द की बात है कि वह हमारे राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज की शोभा बढ़ा रहा है।

सन् १८४९ ई० में पञ्जाब सिक्खों की अमलदारी से निकाल कर कम्पनी की अमलदारी में मिला लिया गया। उसी समय कोहनूर भी कम्पनियों के कर्मचारियों के हाथ में आया। उस समय यहाँ के बड़े लाट डलहौज़ी थे। उन्हों ने कोहनूर को दो विश्वास-पात्र अफ़सरों के साथ स्वर्गवासिनी श्रीमती महारानी विक्टोरिया के पास भेज दिया। सन् १८५० ई० में वह हीरा वहाँ की प्रदर्शनी में रक्खा गया। उस की वहां बड़ी प्रशंसा हुई।

योरुप जाते समय वह हीरा तोल में १८६॥ किराट निकला। पर महारानी और प्रिंस को उस की गढ़न पसन्द न आई। इस लिये रितवाने के लिये वह बड़े-बड़े जौहरियों को दिखलाया गया। अन्त में आमस्टरडम के मैसर्स कौस्टर कम्पनी ने हीरे को रेतने का भार अपने ऊपर लिया और एक चतुर कारी-

गर को इसी काम पर नियत किया। पर कहते हैं कि प्रिंस कनूसर्ट ने ६ जुलाई सन् १८५२ ई० को सब से पहले स्वयं एक कल की सहायता ही से कोहनूर के रेतने का काम आरम्भ किया। रिताई का काम अड़तीस दिन तक होता रहा। जब वह बन कर तैयार हुआ तब फिर तौला गया। तौलने पर मालूम हुआ कि उस हीरा का वज़न ८० किराट कम हो गया। दुःख इस बात का है कि कोहनूर के इतने हलके हो जाने पर भी, उसकी काट छांट तब भी लोगों से नापसन्द हुई। कोहनूर की रिताई में आठ हज़ार पाउण्ड अर्थात् १, २०, ९९० रुपये ख़र्च पड़े।

आजकल कोहनूर विण्डसर-कैसल में है। उस का एक नमूना लण्डन-टावर में रखा है। कोहनूर का मूल्य वहाँ वालों ने इक्कीस लाख रुपये ठहराया है। इस में सन्देह नहीं कि कोहनूर की टक्कर के हीरे इस संसार में एक-दो और भी हैं। पर ऐतिहासिक घटनाओं के कारण जैसा "कोहनूर" प्रसिद्ध है वैसा दूसरा हीरा संसार में प्रसिद्ध नहीं है। लेडी बरटन नाम की एक विलायती रमणी ने लिखा है कि कोहनूर अपने स्वामी को नहीं फलता।

पर लेडी साहबा के इस कथन से इतिहास-वेत्ता कदापि सहमत नहीं हो सकते। इस में सन्देह नहीं कि कोहनूर सबल और शक्तिशाली को फलता है और निर्बल एवं बोदों का शत्रु हो जाता है। जब से कोहनूर "विण्डसर कैसल" में पहुँचा है; तब से अंग्रेज़ जाति की दिन दूनी और रात चौगनी उन्नति हो रही है। हाँ—एक बात अवश्य माननी पड़ेगी। वह यह है कि कोहनूर का अपनी मातृ-भूमि भारत-वर्ष से अनुराग नहीं है। बाल्यावस्था में तो नहीं, पर ज्यों ही उस ने होश सम्भाला

त्यों ही उस को सैल सपाटे की सूझी। वह काबुल कन्धार होता हुआ फ़ारस तक धावा मार आया। फिर विदेश में जब उस का मन उचटा, तब वह फिर स्वदेश में आया और उन्नीसवीं शताब्दी में पंजाब-केसरी के पास रहा। किन्तु जिस की टेव छोटी अवस्था ही से बिगड़ जाती है वह फिर बड़ी कठिनता से सुधरती है। इस लिये वह फिर सन् १८५० ई० में अपना देश छोड़ सात समुद्र पार भाग गया है। कौन कह सकता है आगे चल कर कोहनूर कहाँ रहेगा ?

(आश्चर्य सप्तदशी)

———

चीन की बड़ी दीवार

(श्री शिवनारायण द्विवेदी)

चीन देश प्राचीन समय से प्रसिद्ध है। चीन देश वाले महीन कारीगरी के लिए सदा से प्रसिद्ध हैं। चीन देश वालों ने ही सब से प्रथम धनुष बाण, बन्दूक और बारूद बनाई थी। छापे के अक्षर भी चीन वालों ने ही निकाले थे। आज चीन वासियों के प्रकट किए हुए इन उपकरणों से संसार का जितना भला हो रहा है, उसे सब ही जानते हैं। इस समय सब देशों का युद्ध बन्दूक़ और बारूद के ही आश्रित है। आज जिन रेशमी वस्त्रों को पहन कर संसार भर के मनुष्य अपने आप को सभ्य समझते हैं; उस रेशम के पैदा करने और कपड़े बनाने की विधि चीन देश से ही प्रकट हुई थी। इसी लिए संस्कृत में रेशमी वस्त्र का नाम "चीनांशुक" है। इस के अलावा चीन देश ने और अनेक प्रकार के आविष्कार संसार में किए, जिन से संसार का बहुत उपकार हुआ। किन्तु चीनियों में मुख्य दुर्गुण यह है, कि वे अपने राज्य के समान और किसी को क्षमता-शाली नहीं मानते।

चीनी लोग अपने देश को 'चांकुयो' कहते हैं। मुग़ल 'कोथ', तातार "निकान कुयान", जापानी "थ" तथा श्यामवाले इसे "छीन" कहते हैं। इस छीन से ही भारतवासियों ने "चीन" कहना शुरू कर दिया; तथा चीन शब्द से ही अंग्रेज़ी नाम "चायना" बना है। चीन देश भारतवर्ष से बहुत बड़ा है, इस के

निवासियों की संख्या भी अधिक है। चीन राज्य ईसा के जन्म से २९५० वर्ष पूर्व एक "फेहीचियेञ्जी" नामक चीनी द्वारा स्थापित हुआ था। इसी प्रकार सात सम्राट् बीत जाने पर "हाया" नामक राजवंश स्थापित हुआ। इस वंश के १७ राजाओं के राज कर चुकने के बाद "साँ" वंशीय राजाओं का राज्य स्थापित हुआ। ईस्वी पूर्व ११२२ वर्ष तक इस वंश के २८ राजाओं ने राज्य किया। इस के अनन्तर "चिउ" नामक वंश स्थापित हुआ। ईस्वी पूर्व २५५ वर्ष तक इस वंश के ३५ राजाओं ने राज्य किया था। इस के अनन्तर "छिन" वंश का राज्य स्थापित हुआ।

इस वंश का चिं नामक राजा बहुत प्रसिद्ध हुआ था। ईस्वी पूर्व २४५ वर्ष से इस ने अपना राज्य प्रारम्भ किया था। यह राजा बहुत ही पराक्रमी था, इस ने सम्पूर्ण राज्य को एक करने के लिये ई० पू० २१३ वर्ष दूसरे राज्यों को जीता और समस्त देश का शासन एक किया। इस ने अपने समय में सम्पूर्ण चीन देश को ३६ भागों में बाँटा। उस समय चीन के उत्तरी भाग में होकर तातार देश के लुटेरे बार बार घुस आते थे और प्रजा के धन तथा प्राणों को हानि पहुँचाते थे। प्रजा की ऐसी दशा देखकर उक्त सम्राट् ने प्रसिद्ध चीन की दीवार बनवाई। आज २२०० वर्ष बीत जाने पर भी वह दीवार पहाड़ की तरह वैसी ही खड़ी है।

चीन के प्रसिद्ध स्थान सांहाईऊई से यह दीवार प्रारम्भ हुई है। इस स्थान पर जो दीवार का द्वार है उसे सांहाई कोयान कहते हैं। (इस का अर्थ है पर्वत सदृश दीवार)। यह स्थान समुद्र का किनारा है। लार्ड जसलिन ने जहाज़ से देखकर इस

दीवार के विषय में लिखा है,—"यह दीवार समुद्र के किनारे पर पर्वत पर पर्वत ही के समान अचल खड़ी है।" यह दीवार प्रारम्भ होकर कई पर्वत और मैदानों को पार करती हुई पीत नामक नदी के किनारे पर आ गई है। यह स्थान बहुत सुन्दरता से बनाया गया है। यहाँ एक बड़ी भारी सेना आनन्द से रह सकती है। होयाँहो नदी के समीप में यह दीवार दुगुनी कर दी गई है। यहाँ से घूम कर यह दीवार फिर जंगलों, मैदानों और पहाड़ों को पार करती हुई फियाऊ नामक स्थान पर समाप्त हुई है।

इस दीवार की लम्बाई १२५० मील है। इस का आकार देश की सीमा के अनुसार है। इस दीवार की नींव २५ से १५ फ़ीट तक है तथा ऊँचाई ३० से १५ फ़ीट तक है। समग्र दीवार पर बहुत ही सुन्दर पालिश किया था, जिस से बरसात के पानी और तीरों का उस पर असर न हो। दीवार पर जगह-जगह ईंटों की बुर्जे बनी हैं, इन में से बहुत सी तो ४० फ़ीट से भी ऊँची हैं। ये बुर्जे दीवार ही पर नहीं बनीं, बल्कि इन की नींव नीचे से उठाई गई है। बहुत सी बुर्जे दो खण्ड की हैं और उन की ऊँचाई ५० फ़ीट है। इस दीवार के बन जाने के अनन्तर लुटेरे तातरी लोगों का आना चीन में बन्द हो गया। यह दीवार अपनी मज़बूती के कारण आश्चर्य का पदार्थ नहीं है, बल्कि इतनी बड़ी दीवार का मनुष्यों के द्वारा तैयार होना ही आश्चर्य है तथा इतना समय बीत जाने पर भी वह वैसी ही खड़ी है, यह भी कम अचम्भे की बात नहीं है। इस दीवार की चौड़ाई प्रत्येक स्थान पर अठारह हाथ है।

मनुष्य की यह कृति आज भी अचल खड़ी है।

[प्राचीन कीर्ति वा सप्त आश्चर्य]

निबन्ध-सार

१—अध्यन

पढ़ने का व्यसन सब व्यसनों से उत्तम है—यह मनुष्य को और सब बुराइयों से बचाता है—जो व्यक्ति पढ़ने में अपना समय लगाता है, उस से एक तो उस की ज्ञान-वृद्धि होती है, दूसरे वह समाज के बुरे वातावरण से बचता है—सच पूछो तो मनुष्य की सब से बड़ी विशेषता ही यह है कि वह पढ़ और लिख सकता है—पुस्तकों की कृपा से हम आज भी वाल्मीकि, कपिल, पाणिनी, होमर, अफ़लातून और शंकर से मिल सकते हैं—पुस्तकों की बदौलत ही दिन-बदिन ममुष्य समाज के ज्ञान की वृद्धि होती जा रही है—पुस्तकों की बदौलत ही तो आज इस पतितावस्था में भारतवासी यह गौरव कर सकते हैं कि उन के पूर्वज कभी संसार के शिक्षक थे—इतिहास का आधार ही लेखन-कला है—इतिहास मनुष्य समाज को उन्नति की ओर ले जाता है—अध्ययन-शील पुरुष अपने कमरे में बैठकर पुस्तकों की सहायता से संसार भर की विद्याओं का ज्ञान प्राप्त कर सकता है—कभी वह कविता का आनन्द लेता है, कभी विज्ञान का, कभी दर्शन का और कभी इतिहास का—आदमी को चाहे कितना ही बड़ा दुःख क्यों न हो, पुस्तकों का आश्रय लेकर वह उस से छुटकारा पा सकता है—परन्तु अध्ययन के बुरे परिणाम गन्दे उपन्यास, अश्लील कविता आदि से हो सकते हैं—उन से बचना चाहिए—अध्ययन में नियमितता नितान्त आवश्यक है—

कभी पुस्तक का कीड़ा बन जाना और कभी महीनों तक पुस्तकों को छूना भी नहीं, यह स्वास्थ्य और मस्तिष्क दोनों के लिए हानिकर है—पढ़ते हुए नोट लेते जाना चाहिए।

—श्री रामचन्द्र शुक्ल, (आदर्श जीवन)

२—अन्धविश्वास

असभ्य और जंगली जातियों में भूत-प्रेतादि की कल्पना विद्यमान है—स्वप्न में किसी मृत मनुष्य के दिखाई दे जाने पर उस की भूतरूप में सत्ता का उन्हें पूर्ण विश्वास हो जाता है—स्वप्न में मनुष्य प्रायः जीवितावस्था के रूपरंग वस्त्राभूषण सहित दिखाई देता है—वे भोले लोग यह नहीं विचारते कि यहाँ पर छोड़े गए हुए शरीर के रूपरंग और वस्त्राभूषणों सहित वही पुरुष हमें कैसे दिखाई दे सकता है—कुछ चालाक लोग देवी-देवताओं के पुजारियों की भाँति सर्वसाधारण को भूतप्रेतादि की अद्भुत अद्भुत शक्तियां बतला कर उन से कार्य-सिद्धि की आशा दिलाते रहते हैं—जन्त्र मन्त्र अथवा अपने सिद्ध किए हुए प्रबल देवता के द्वारा उन से काम लेने का आडम्बर रच कर लोगों को लूटते हैं—वे भोले लोग कार्य कारण के सम्बन्ध को नहीं जानते—देवी-देवताओं और भूत-प्रेतादि के प्रकोप का भय दिला कर इन लोगों की विचार-शक्ति भी नष्ट कर दी जाती है—इतने पर भी जो कोई विचार-शक्ति से काम लेता हुआ देवी-देवता वा भूत-प्रेतादि के विषय में कोई प्रश्न कर बैठे तो उसे धर्म-द्रोही और देवताओं को रुष्ट करने वाला कह कर देश से निकाल देते हैं अथवा जान से ही मार डालते हैं—जादू-मंतर-टूने आदि

भी प्रचलित हैं—अनेक बीमारियों और सांप बिच्छू आदि के काटने के अलग अलग मन्त्रों से झड़ाते-फुंकाते हैं—विद्या के बल के कारण इन मन्त्र-तन्त्र आदि का बल क्षीण हो रहा है—अतः इन की शक्ति गाओं में अधिक, कस्बों में कम और नगरों में लुप्त-प्राय है—अपने धर्म के अथवा दूसरे धर्म के देवता आदि के विचार करने की भी शक्ति नहीं है—अतः कबर, पीर, समाधि, वन का झाड़ आदि सब की पूजा करने को उद्यत हो जाते हैं—ये लोग समझाने वाले की बात तक नहीं सुनते।

—श्री सूरजभानु वकील, (जीवन-निर्वाह)

३—अहंकार

मनुष्य की प्रवृत्तियों में अहंकार सब से अधिक प्रबल है—यह बड़े बड़े और उत्कृष्ट मनुष्यों में भी पाया जाता है—इसे परास्त करना बहुत कठिन है—काम और क्रोध के विजय करने के उदाहरण काफ़ी मिलते हैं—अहंकार-विजय के बहुत कम—परन्तु अहंकार को संयम करने का प्रयत्न करना चाहिये—मनुष्य अपनी तुच्छता का ध्यान करे और दूसरे लोगों के सुगुणों का—अपने को ईश्वर का उपकरण-मात्र समझे—महात्मा गांधी का उदाहरण।

—श्री चन्द्रराज भण्डारी, (नैतिक जीवन,)

४—आचरण

मनुष्य की परख उस के आचरण से की जाती है—अन्दर से वह क्या है, यह देखना बड़ा कठिन है—

प्रायः युवकों को अपनी नीयत पर विश्वास होता है, लोक-निन्दा की परवाह भी नहीं करते—परन्तु कई बार उन कारणों से उन का आचरण आक्षेपयोग्य हो जाता है—मनुष्य को किस से किस तरह बरतना चाहिये, इस के लिये समाज ने नियम बना रक्खे हैं, इन्हें पूरा करना शिष्टाचार कहाता है और शिष्टाचार आचारण का बड़ा आवश्यक अंग है—मनुष्य को दूसरों से खरा सलूक करना चाहिये और तभी स्वयं उन से भी खरे सलूक की आशा रखनी चाहिये—ऋण लेना व्यक्तिगत आचरण में एक बड़ा दोष है—इस से बचना चाहिये—आचरण की श्रेष्ठता के लिये अपना ध्येय बहुत ऊँचा रखना चाहिये—ऊँचे आदर्श सदैव मनुष्य की रक्षा करते हैं—जिस का आचार अच्छा नहीं, उस का आचरण भी अवश्य ही दोषयुक्त हो जाता है—ब्रह्मचर्य, शिक्षा, इन्द्रिय-निग्रह और ऊँचे आदर्श, इन्हीं के आधार पर आचारण की बुनियाद खड़ी है।

—श्री रामचन्द्र शुक्ल, (आदर्श जीवन)

८—आत्म-निर्भरता

कभी कभी बड़े बड़े शुभचिन्तक विश्वासपात्रों की ओर से भी यथेच्छ-रूप से आशा की पूर्ति नहीं होती—अतः बुद्धिमान् को उचित है कि सदा अपना भरोसा रक्खे—सभी को सभी प्रकार के पुरुषों और पदार्थों की सहायता का प्रयोजन पड़ता रहता है-'अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकता' यह उदाहरण विद्या-बुद्धि-विशिष्ट हट्टे-कट्टे मनुष्य के लिए उचित नहीं—सूर्य अकेला ही समस्त सृष्टि का प्रकाशक है—सिंह

अकेला ही समस्त वन-भूमि का स्वामी है—अकेला चना भी उछल कूद कर अपना बचाव कर लेता है—जन्म, मृत्यु, रोग, वियोगादि का दुःख, आहर-निद्रादि का सुख, प्रत्येक के अलग अलग है—अपने कर्तव्य में अन्य जनों की मुख-प्रतीक्षा क्यों—प्रत्येक मनुष्य को शरीर और प्राण एक से मिले हैं—अपना काम अपने ही हाथ से होता है—जगत् और जगदीश्वर की सहायता साहसी को ही प्राप्त होती है—मेल-मिलाप सब से और आश्रय केवल जगदाश्रय और अपने हस्त पादादि का रक्खो—यथासम्भव अपने लिए अपने मित्रों और सहायकों को कष्ट न देना चाहिए—अपना काम करने में किसी की लज्जा नहीं करनी चाहिए।

—श्री प्रतापनारायण मिश्र, (सुचाल-शिक्षा, प्रथम भाग)

६—आत्म-विश्वास

जीवन-संग्राम में सफलता प्राप्ति के लिए आत्म-विश्वास नितान्त आवश्यक है—मैं जो कुछ कर रहा हूं, वह सफल हो रहा है—भयंकर युद्धों में यदि योद्धाओं को आत्म-विश्वास न हो तो कदापि सफलता न मिले—नैपोलियन, चन्द्रगुप्त और दुर्गादास का उदाहरण—आत्म-विश्वास मनुष्य-जाति की अमूल्य शक्ति है—वह हमें हमारी आत्मा की दिव्यता का दर्शन कराता है।

—श्री चन्द्रराज भण्डारी, (नैतिक जीवन)

७—आत्म-संयम

संसार का कार्य-क्षेत्र असीमित है—मनुष्य के हृदय को सैंकड़ों कार्य और हज़ारों पादर्थ अपनी ओर खींचते हैं—

इस कार्य-क्षेत्र में सफल वह होता है, जो एक जगह डटा रहे—आत्म-संयमी में ही यह गुण होता है—आत्म-संयम से मनुष्य की मानसिक शक्ति बढ़ती है—जो इस बात पर दृढ़ रह सकता है कि मैं ने अमुक काम नहीं करना, वही इस बात पर भी डटा रह सकता है कि मैं ने अमुक काम ज़रूर करना है—आत्म-संयमी का निश्चय अहंकार नहीं होता, आत्म-संयमी तो अपनी आत्मा के आदेश पर चलता है—उसे सफलता प्राप्त न भी हो तो भी वह दुखी नहीं होता—आत्म-संयम का मुख्य उपाय ईश्वर पर विश्वास और ईश्वर से आत्मबल की याचना करना है—आत्म-संयम के लिए चरित्र की शुद्धता भी नितान्त आवश्यक है—मनुष्य को अपने चरित्र की शुद्धता बनाए रखने के लिए १६ से २० वर्ष की आयु में विशेष सावधान रहना चाहिए—आत्म-संयम की शक्ति भी इसी आयु में ली जा सकती है—आत्म-संयमी को कभी पश्चात्ताप नहीं होता।

—श्री छविनाथ पाण्डेय, (चरित्र चिन्तन)

८—इन्द्रिय-निग्रह

कुश्तीबाजों ने जिन दिनों कुश्ती लड़नी होती है, उन दिनों वे पूरा ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं—यह संसार भी एक अखाड़ा ही तो है—हम सब ने इस अखाड़े में अपना रिकार्ड बनाना है—यदि हम लोग आत्म-संयम से न रहे, इन्द्रियों के वश हो गए तो पिछड़ जायँगे—जिस ने अपनी इन्द्रियों को खुला छोड़ा, वह तबाह हो गया—नवयुवकों को जब संयम की शिक्षा दी जाती है, तब वे हँसते हैं, मगर उस हंसी का जवाब अकाल ही में मुरझा जाने

वाले विषयी-युवकों के चेहरे पर खुदा हुआ है—संसार में किये का फल ज़रूर मिलता है—इसी से हमारे शास्त्र सदाचार और ब्रह्मचर्य की शिक्षा पुकार-पुकार कर दे रहे हैं—जब तुम गिरने लगो तो उस समय अपनी सोती हुई आत्मा को पुकार कर जगाने की कोशिश करो—अपने को दुनियां के प्रलोभनों से बहुत ऊँचा समझो—ऊंह, कभी मैं भी गिर सकता हूं! ऐसे कमज़ोर कोई और होंगे—पतन के समय अपने उत्तर-दायित्व और कुटुम्ब का भी ध्यान करना चाहिये—शरीर आत्मा का पवित्र मन्दिर है, उसे अपवित्र करना पाप है—भीष्मपितामह और राणा प्रताप का उदाहरण।

—श्री छविनाथ पाण्डेय, (चरित्र चिन्तन)

९—उद्‌देश्य और लक्ष्य

उद्देश्य स्थिर न करने वालों की दशा—"मैं क्या होऊंगा"—उद्देश्य ही सफलता का मूल आधार है—प्रवृत्ति या रुचि की अनुकूलता—उद्देश्य और अन्तःकरण—वास्तविक प्रवृत्ति—योग्य पुरुष के चिह्न—नौकरी और रोज़गार—अमेरिका की दुर्दशा का उदाहरण—"गोल छेद और चौकोर आदमी"—इच्छा और योग्यता—उद्देश्य की कसौटी—परिणाम का ध्यान छोड़ दो—गीता का निष्काम धर्म—छोटी और तुच्छ बातें—परिस्थिति और परिवार आदि का प्रभाव—उत्तम सङ्गति—उदाहरण और आदर्श—भलाई और बुराई का व्यापक प्रभाव—छोटी घटनाओं से मानव-जीवन में बड़ा परिवर्त्तन—कुछ उपयोगी बातें।

—बाबू रामचन्द्र वर्मा, (सफलता और उस की साधना के उपाय)

१० — कर्तव्य-पालन

कर्तव्य का लक्षण—दो प्रकार, नित्य और नैमित्तिक— नैमित्तिक के दो भेद—साधारण और विशेष—साधारण लोक-रीत्यनुसार अपने नियत समय पर अवश्य करने पड़ते हैं— अथवा दैहिक, दैविक, भौतिक योग से—उदाहरण, होली दिवाली इत्यादि पर्व, जन्म मरणादि घटना—इन के पालन में सामाजिक रीति में त्रुटि और अपनी सामर्थ्य से अधिक कुछ न करना चाहिये—पर विशेष, जो जीवन में किसी ही किसी पर दो चार बार दैवात् आ पड़ते हैं और जिन का उचित रीति से निभ जाना अचल कीर्ति का हेतु होता है. उन के साधनार्थ अपने सर्वस्व वरन प्राण तक का मोह न करना चाहिये— उदाहण—'धन दै के जिय राखिये, जिय दै राखिए, लाज। धन दे, जिय दे, लाज दे, एक प्रीति के काज ॥'—नैमित्तिक कर्तव्यों का यथोचित निर्वाह वे ही लोग कर सकते हैं, जो नित्य के कर्तव्यों में पूर्ण अभ्यस्त हों—अतः नित्य कर्तव्यों का पूर्णतया पालन करना चाहिये—इसी से जीवन सार्थक है।

—श्री प्रतापनारायण मिश्र, (सुचाल शिक्षा, प्रथम भाग)

११—किस पर्व में किस की बन आती है ?

श्रीराम-नवमी में भक्तों की; दोपहर तक व्रत करके दिन-भर चरते हैं—गंगा दशहरे पर गंगा के पण्डों की ; गरमी के कारण उस दिन हज़ारों यजमान नहाते हैं—रक्षा-बन्धन के दिन बहनों की—निरजला एकादशी के दिन पंखे के व्यापारियों की—श्राद्ध के दिनों में दादा परदादाओं के प्रतिनिधि ब्राह्मणों

की—अगहन और पौष में मेवाफ़रोशों की; सरदी के कारणमे वे बहुत बिकते हैं—वसन्तपञ्चमी के दिन धोबियों की और फागुन की होली में भडुओं की; होली के दिन शहर भर में उन्हीं का राज हो जाता है।

—श्री प्रतापनारायण मिश्र, (निबन्ध नवनीत)

१२—कुछ आवश्यक गुण

एक ही लक्ष्य पर सारी शक्तियां लगाओ—'लकीर के फ़कीर'—शक्ति का विकास—स्वास्थ्य का सदा ध्यान रक्खो—बहुत से काम एक साथ छेड़ने की हानियां—धैर्य की आवश्यकता—अपने विचार पर अटल और दृढ़ रहने का फल—निरन्तर अभ्यास—आत्म-संयम—कुछ उदाहरण—विपत्तियों का सामना—परिस्थिति और साधन—योग्य मनुष्य हर एक चीज़ से अपना काम निकालता है—आत्म-निर्भरता—योग्यता और आवश्यकता—अपना कर्त्तव्य जानो—कुछ आवश्यक बातें—स्वार्थी होना बड़ा भारी पाप है—सदा परोपकारी बनो—कार्य्यपटुता—उस का महत्त्व और आवश्यकता—भोंडेपन के कुछ उदाहरण—प्रतिभा और पटुता—आपत्ति के समय कर्त्तव्य निश्चित करना—कुछ उदाहरण—उपस्थित-बुद्धि—उत्तम अभ्यास—सर्वप्रियता—धन के इच्छुक चैन नहीं कर सकते।

—बाबू रामचन्द्र वर्मा, (सफलता और उस की साधना के उपाय)

१३—क्रोध

मनुष्य की बुरी आदतों में एक आदत क्रोध भी है—क्रोध ही मनुष्य के शरीर में रहने वाला बड़ा शत्रु है—क्रोध तब आता है जब कोई हमें हानि पहुँचावे अथवा हमारे कथन के विरुद्ध काम करे—क्रुध मनुष्य का चेहरा तमतमा जाता है, आंखें लाल हो जाती हैं, सांस जल्दी जल्दी चलने लगता है, शरीर में कँपकँपी आ जाती है—क्रोध दुर्बल और विचार-शून्य को अधिक और बलवान् और विचारशील को कम आता है—क्रोध आने पर मनुष्य बुद्धि से काम न लेता हुआ शराबी की तरह अन्धा होकर अपना पराया भूल जाता है और उस दशा में जो जी में आता कह बैठता और कर बैठता है और क्रोध के उतर जाने पर पछताता है कि हाय मैं ने ऐसा क्यों किया—बच्चे को खाने के लिये घर में आए हुए भेड़िये को मार कर एक कुत्ता स्वामी के पास आया; परन्तु कुत्ते के स्वामी ने यह समझ कर कि इस पालतु कुत्ते ने मेरे बच्चे को खा लिया है, मार दिया; और बाद में बच्चे को सुरक्षित और भेड़िये को मरा हुआ देख कर उसे बड़ा शोक हुआ—जब एक छोटी सी बात पर एक राजा दूसरे से क्रुद्ध हो जाता है तो सहस्रों की जानें जाती हैं—क्रोध से बचने का उपाय यह है कि जिस पर क्रोध आवे उस से अलग हो जाओ, थोड़ा सा ठण्डा पानी पी लो, विचार करो और मन को उधर से हटा लो—आए हुए क्रोध को रोकने की अपेक्षा क्रोध को आने ही न देना अच्छा और सुगम है—क्रोध करने से मनुष्य का बल जाता रहता है और वह अपने शत्रु पर विजय नहीं पा सकता—क्रोध की सब से अच्छी दवा विचार है।

--श्री गङ्गाप्रसाद एम०, ए०, (बा० निबन्धमाला)

१४—गोरक्षा

गौ से मनुष्य-जाति को लाभ—स्वादिष्ट और बलकारक भोजन गौ के दूध से ही बनते हैं–आज से बीस वर्ष पहले घी दूध बहुत सस्ता था–लोग बलवान् और नीरोग तथा वीर थे—अब गोधन की कमी से शारीरिक दुर्बलता बढ़ रही है—जहाँ हम और कई कामों में कितना ही रुपया लगाते हैं और उत्साह से काम करते हैं वहाँ गोरक्षा के लिए भी हमें वैसे ही उत्साह से कटिबद्ध होना चाहिए—गौ मनुष्य-मात्र के लिये उपयोगी है—अतः मनुष्य-मात्र को गोरक्षा अपना कर्तव्य समझना चाहिए।

—पं० प्रतापनारायण मिश्र, (निबन्ध-नवनीत)

१५—जीव-जन्तु-जगत्

जीव-जन्तुओं के मुख्य दो भेद हैं ; रीढ़दार और बिना रीढ़ के—रीढ़दारों में पांच भेद—दूध पिलाने वाले, पक्षी, रेंगने वाले, फुदकने वाले और मछलियां—बिना रीढ़ वाले के तीन भाग; कोषधारी--यथा घोंघा, कीड़े मकौड़े—जैसे तितली, कवचधारी जैसे केंकड़ा—इन सब के भी कई भेद हैं—जैसे दूध पिलाने वाले जन्तुओं में भी मांसाहारी और शाकाहारी दोनों भेद होते हैं--इन्हें हम दांतों से पहिचान सकते हैं—शिकारी जन्तुओं के दांत ऐसे होते हैं जिन में मांस को हड्डियों से पृथक् करने की शक्ति भी होती है—रीढ़दार जन्तुओं में दुग्ध-दायी सब से उच्च हैं ; उन के अधिक से अधिक अंग-प्रत्यंग होते हैं—स्तनपायी भी ११ तरह के हैं—

१ वानर—बन्दर, लंगूर, गोरिला आदि ।
२ मांसाहारी—शेर, बाघ आदि ।
३ सुमदार—घोड़ा, गैंडा, भेड़ आदि ।
४ स्तनपायी मच्छ—जैसे ह्वेल ।
५ सिरीन—सील ।
६ चिमगादड़ ।
७ कीट-भक्षक—जैसे छछून्दर ।
८ कुतरने वाले—जैसे चूहा ।
९ दन्तरहित—जैसे स्लोथ ।
१० थैलेदार—जैसे कुंगरू ।
११ अण्डे रखने वाले ।

—पं० श्रीराम शर्मा, (विशाल भारत, एप्रिल १९३२)

१६—जीवन का संगीत

सङ्गीत बहुत ही आकर्षक होता है—परन्तु कुछ लोग उस के बहुत ही विरोधी हैं—मनु महाराज ने ब्रह्मचर्यावस्था में सङ्गीत को त्याज्य बताया है—ऐसे लोगों का ख़्याल है कि जिसे एक बार सङ्गीत जैसे रसीले विषय कर चस्का लग गया वह फिर व्याकरण, गणित जैसे शुष्क विषयों में रस नहीं ले सकता—धार्मिक लोग भी शायद इसी कारण से सङ्गीत से रुष्ट रहते हैं—औरङ्गजेब का उदाहरण—परन्तु उधर सङ्गीत के विशेषज्ञों का कहना है कि ईश्वर और प्रकृति दोनों ही सङ्गीत-मय हैं—इस में सन्देह नहीं कि सङ्गीत जीवन का आनन्द है—थका मांदा मनुष्य भी मधुर सङ्गीत की दो तीन लय सुनकर

तरोताज़ा हो जाता है—जुलाहे, गड़रिये, मल्लाह, फ़कीर, भिखमङ्गे सङ्गीत—इन सब के जीवन को मधुर बनाता है—क्या तुम ने सांझ के धुंधले प्रकाश में किसी गड़रिए को कभी एकान्त में गाते हुए सुना है—सेना भी सङ्गीत को ध्वनि सुन-कर वीर-रस से भर जाती है—सङ्गीत की इसी महती शक्ति का दुरुपयोग भी बहुत होता है—बदमाशों ने सङ्गीत की पवित्र गङ्गा को गन्दला बना रक्खा है—उसी से सङ्गीत बदनाम होता है।

—श्री काका कालेलकर, (जीवन साहित्य)

१७—दासता

"सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम।"—पराधीनता में दुःख और स्वाधीनता में ही सुख है—मनुष्य को परमात्मा ने कार्य करने में स्वतन्त्र बनाया है—मनुष्य या जाति की स्वाधीनता-पूर्वक कार्य करने की शक्ति को खो देने का नाम ही 'दासता' है—दासता कई प्रकार की होती है—शरीर की दासता का उदाहरण चीनियों के छोटे छोटे पैर हैं, जिन्हें बचपन से जकड़ दिया जाता है—मानसिक दासता का शिकार तो मनुष्य जाति का बहुत बड़ा भाग है—समाज की रूढ़ी, बिरादरी, धर्म की रूढ़ियां, धर्माचार्य और राज्य के फैलाए हुए सँस्कार—ये सब बातें मनुष्य में मानसिक दासता को बढ़ाती हैं—दासता से उन्नति का कार्य रुक जाता है, और उस से प्रथाओं में सड़ांद आ जाती है और समाज कमज़ोर होने लगता है—धार्मिक दासता दिमाग़ पर ताला लगाती है—बुद्ध, ईसा, लूथर और दयानन्द ने अपने-अपने समय की इसी धार्मिक दासता के विरुद्ध क्रांति की थी—सामाजिक दासता का

शिकार भारतवर्ष सब से अधिक है—सामाजिक रूढ़ियों की सड़ांद ने इस देश को बहुत कमज़ोर, दरिद्र और दुखी बनाया है—इस के अतिरिक्त नैतिक आर्थिक दासता भी मनुष्य समाज को कमज़ोर करती है—वास्तव में स्वेच्छा-पूर्वक अपने पर डाले गए बन्धन तो मनुष्य-समाज के लिए उन्नति का कारण होते हैं और ज़बरदस्ती डाले गए बन्धन उसे नपुंसक बना देते हैं।

—श्री इन्द्र, विद्यावाचस्पति, (विशाल भारत, जनवरी १९३२)

१८—देश-भक्ति

किया हुआ उपकार हमारे हृदय में उपकर्ता के प्रति प्रेम उत्पन्न कर देता है—रोटी का टुकड़ामात्र डालने पर ही कुत्ता हम पर विपत्ति आने पर अपनी जान तक पर खेल जाता है—जिस देश में हम उत्पन्न हुए, बढ़े, अन्न खाया, पानी पीया, वायु सेवन किया, जिस देश ने हमारे साथ इतनी भलाई की हो उस की भक्ति हमारे लिये नितान्त आवश्यक है—मातृ-भक्ति मनुष्य का परम धर्म है—मताएं तीन होती हैं—ईश्वर जो समस्त संसार की जननी है—वह स्त्री जिस की कोख से हम ने जन्म लिया है—और वह देश जहाँ हम जन्मे और पले—इसी लिये तो इसे मातृ-भूमि कहते हैं—देश-भक्ति ही मातृ-भक्ति भी है—बहुत से लोग राज्य-विरोध को ही देश-भक्ति कहते हैं—राज्य से देश की रक्षा होती है—अतः राज-भक्त ही देश-भक्त हो सकता है—देश-भक्ति में वे सब बातें सम्मिलित हैं जिन से देश की वृद्धि हो—अतः सदाचार रखना, दुराचार

से बचना प्रथम देश-भक्ति है—जैसे एक गन्दी मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है वैसे ही एक दुराचारी समस्त देश को कलङ्कित कर देता है—दूसरों को सदाचारी वही बना सकता है जो स्वयं सदाचारी हो—स्वयं विद्वान् बनना और दूसरों को विद्वान् बनाना देश-भक्ति का लक्षण है—देश के दीनों की दीनता दूर करने के लिये कला-कौशल आदि प्रवृत्त करना तीसरी प्रकार की देश-भक्ति है—सच्ची देश-भक्ति यही है कि हम देश की सेवा करें और सब देशनिवासियों को अपना भाई समझें—जिन मनुष्यों ने हमारे देश में जन्म लिया है वे हमारे भाई हैं—उन को सर्वथा सभ्य और समृद्ध बनाने वाला ही देश-भक्त है।

—श्री गंगाप्रसाद, एम० ए०, (बा० निबन्धमाला)

१९—देशाटन

अन्य देशों में भ्रमण करने से बड़े बड़े लाभ होते हैं—देशाटन करने वाले लोगों के ज़रिए से एक देश में उत्पन्न होने वाली और बनने वाली वस्तुएं अन्य देशों में चली जाती हैं और व्यापार बढ़ जाता है—इस से भूगोल विद्या भली भाँति आ जाती है—अन्य देशों के प्राकृतिक दृश्य और अच्छी अच्छी वस्तुएं देखने से चित्त प्रसन्न होता है—उदाहरण के लिये हिमालय और ऐल्प्स पर्वतों के दृश्य और संसार के सात आश्चर्य—देशाटन स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभदायक है—देशाटन से मनुष्य का ज्ञान बढ़ता है और सहनशक्ति आती है—प्राचीन समय में हमारे देश के लोग भी देशाटन किया करते थे—सुमात्रा जावा आदि पुरानी बस्तियाँ उन्हों ने ही बसाई थीं।

—श्री गङ्गाप्रसाद, एम० ए०, (बा० निबन्धमाला)

२०—धरती माता

सदा स्वच्छ वायु में रहने वाले, परिश्रम करने वाले और अनेक बलनाशक दुर्व्यसनों से बचे हुए भी हमारे बहुत से देहाती भाई निर्बल ही हैं—जिन के घर से नगरवासियों को अन्न-वस्त्र मिलता है उन्हीं को रोटी-लङ्गोटी के लाले पड़े हैं—इस का कारण यह है कि हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसी के बनने बिगड़ने का ध्यान नहीं रखते—पृथ्वी से हमें अनेक प्रकार के लाभ हैं—गोरक्षा के लिये भी धरती माता की रक्षा परम आवश्यक है—सब को खाने को देने वाली यही धरती है, अतः धरती माता है—धरती की सावधानी से रक्षा न करने से देश निर्धन और बेकार हो जाता है—धरती को पुष्ट रखने के उपाय सर्वसाधारण को ज्ञात होने चाहिएँ—४० ही ५० वर्ष पहले जिन खेतों से सौ-सौ मन अन्न निकलता था, अब उन में से ५० या ६० मन ही निकलता है—धरती और वृक्षों का परस्पर घना सम्बन्ध है—धरती के लिये वृक्षों की बड़ी आवश्यकता है—वृक्षों अर्थात् वनों से जनता को बहुत लाभ है, धरती पुष्ट होती है—अतः वृक्षों की रक्षा ही धरती माता की भी रक्षा है।

—पं० प्रतापनारायण मिश्र, (निबन्ध-नवनीत)

२१—धैर्य

सुखी दशा में मनुष्य अपने सुख को प्रायः स्थायी समझ लेता है, परन्तु वास्तव में किसी-भी समय परिस्थितियां प्रतिकूल हो सकती हैं—वर्षा ऋतु के आकाश का उदाहरण—सङ्कट किसी भी समय आ सकते हैं—संकट के अवसर पर केवल धैर्य ही सहायक है—धैर्यवान् मनुष्य के दुर्दिन भी धैर्य-

हीन मनुष्य के सुदिन से अच्छे कटते हैं—धैर्य-हीनता मनुष्य को डरपोक बनाती है—ऐसा मनुष्य लोगों की आलोचना के भय से अच्छे काम भी नहीं कर सकता—धैर्यवान् को अपने निश्चय से नहीं हटाया जा सकता—रामचन्द्र, युधिष्ठिर, विक्रमादित्य, प्रताप, शिवाजी आदि के उदाहरण—धैर्य के साधन ; अदूषित मनोवृत्ति और ईश्वर में दृढ़ विश्वास—प्रह्लाद भक्त, ध्रुव भक्त आदि के उदाहरण।

—श्री माधवराव सप्रे, (जीवन संग्राम में विजय प्राप्ति के कुछ उपाय)

२२—धोखा

धोखे से सारी दुनियां डरती है—अवास्तविकता का प्रदर्शन धोखा है—दुनिया में धोखेबाज़ी है भी बहुत अधिक—ईश्वर की सृष्टि में भी धोखा है—कहीं पानी मैदान-सा दिखाई देता है, कहीं रेत पानी—अवतारवादियों की नज़र में ईश्वर अपने को अवास्तविक रूप में प्रकट करता है—वेदान्तियों की दृष्टि में यह सम्पूर्ण संसार भी एक धोखा-मात्र है—कुछ लोग मनुष्य-जीवन को भी एक बड़ा धोखा समझते हैं—वैसे दुनिया में धोखेबाज़ी से बड़े-बड़े काम बनते हैं—एक जाति दूसरी जाति को एक देश दूसरे देश को धोखा देना चाहता है—युद्ध, व्यापार, प्रेम सभी जगह धोखा चलता है—संसार का नियम यह है कि धोखा देना तो बुरा नहीं, धोखा दे कर पकड़ा जाना बुरा है—जो स्वदेशवासी 'स्व' को छोड़ प्रत्येक दृष्टि से 'पर' को अपना रहे हैं, वे भी धोखेबाज़ हैं—उन के धोखे से बचना चाहिए।

—श्री प्रतपनारायण मिश्र, (निबन्ध-नवनीत)

२३—नागरिक शिक्षा

संसार के उन्नत देशों में बच्चों को पाठशालाओं से ही नागरिक शिक्षा देने का प्रयत्न किया जाता है—नागरिक शिक्षा में ये बातें आती हैं—नागरिक का अर्थ है नगर में रहने वाला अर्थात् सामूहिक जीवन व्यतीत करने वाला—जो व्यक्ति जिस समाज में रहता है, उस के उस समाज के प्रति कुछ कर्तव्य और कुछ अधिकार प्राप्त हो जाते हैं—प्रत्येक नागरिक को अपने उत्तरदायित्व का ध्यान रहना चाहिए—समाज के बहुमत को मानने की शिक्षा, कानून का पालन, ईमानदारी, नैतिक आदर्श, दूसरों की सम्पत्ति की रक्षा, नेता की बात मानना, बुद्धिपूर्वक काम कराना, मितव्ययता, स्वावलम्बन, शिष्टाचार, स्वच्छता आदि बातों की शिक्षा देना नागरिक शिक्षा देना कहता है—अमेरिका इस शिक्षा की दृष्टि से बहुत उन्नत है।

—श्री भगवान् दास केला, (विशाल भारत, अप्रेल, १९२८)

२४—पपीता

पपीता ख़रबूज़े के ढंग का बहुत लाभप्रद फल है—नमी में अच्छा होता है—तेज़ सरदी-गर्मी नहीं सह सकता—पानी ज़्यादा चाहता है—आकार में पपीते दो प्रकार के होते हैं—ख़रबूज़ा-नुमा और गोल—पपीते गुच्छों में लगते हैं—क्रमशः छोटे गोल और लम्बूतरे पपीते अधिक-अधिक भारी होते जाते हैं—एक-एक पर १११ तक पपीते लग जाते हैं—बड़ा पपीता पांच सेर वज़न का भी हो जाता है—पपीता बोने के लिए बढ़िया बीज लेकर उसे मई या जून में बोना चाहिए—ज़मीन में ख़ूब गोबर दे देना चाहिए—ज़मीन सदैव गीली रहे—अंकुर दो तीन

सप्ताह में निकलता है—गमलों में बोना और भी अधिक अच्छा है; क्यों कि उन्हें इच्छानुसार छांह-धूप में रख सकते हैं—पपीते पर दूसरे साल फल लगते हैं—पेड़ पर पके पपीते का स्वाद बहुत अच्छा होता है—पपीते के पेड़ के पास मच्छर नहीं आते—पेट की बीमारियों विशेष कर आतड़ियों के लिए इस से अधिक लाभकर अन्य को चीज़ नहीं—जिगर की बीमारियों के लिए कच्चे पपीते का दूध बड़ा ही लाभकर है।

--पं० श्रीराम शर्मा, (विशाल भारत, जून १९३२)

२८—पंच परमेश्वर

पञ्चामृत, पञ्चेन्द्रियसंयम, पञ्चबाण काम, पञ्चगव्य, पञ्च-प्राण, पञ्चत्व, पञ्चतत्त्व, पञ्चगङ्गा, इत्यादि के गौरव से पञ्च शब्द से परमेश्वर का घनिष्ठ सम्बन्ध प्रतीत होता है—इसी लिये पञ्च अर्थात् अनेक जनसमुदाय को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझा गया है—

'पाच पञ्च मिल कीजे काज, हारे जीते होय न लाज ।'

पञ्च न होते तो परमेश्वर का कोई नाम भी न जानता—परमेश्वर भी पञ्चों द्वारा ही किसी जाति को उन्नत वा अवनत करता है—पञ्च की इच्छा के विरुद्ध चलना परमेश्वर की इच्छा के विरुद्ध चलना है—पञ्च और परमेश्वर कहने को दो हैं पर शक्ति एक ही रखते हैं—पञ्चों के विरुद्ध होकर सुख नहीं है – पञ्च का बैरी परमेश्वर का बैरी है—पञ्चों का जीवन आदर्श जीवन होता है--पञ्च ही का अनुकरण परम कर्तव्य है।

—पं० प्रतापनारायण मिश्र, (निबन्ध नवनीत)

२६—परिश्रम का महत्त्व

कर्म महान है—परिश्रम का प्रत्येक काम पवित्र है—परिश्रम में आशा है—आलस्य निराशा को जन्म देता है—मनुष्य को परमात्मा और प्रकृति की आज्ञा है कि वह कर्म करे—कर्म के बल पर मनुष्य सघन वनों को काटकर उन पर सुन्दर और विशाल नगर का निर्माण कर देता है—मनुष्य की आत्मा को वास्तविक प्रसन्नता तभी अनुभव होती है, जब वह काम करता है—ग़रीब मज़दूर को संसार की सारी चिन्ताएं जकड़े रहती हैं, मगर जब वह काम करता है तो सब भूल जाता है—परिश्रम एक आग है जिस में सब कुछ पवित्र हो जाता है—सब प्रकार की शंकाओं का समाधान भी कर्मण्यता से ही हो सकता है—परिश्रम और कर्म की उपासना जिस धर्म मन्दिर में होती है, उसी मन्दिर में परमात्मा का वास है।

—कारलाइल, (विशाल भारत, दिसम्बर, १९३१)

२७—परोपकार

दूसरों के साथ भलाई करने का नाम परोपकार है—सब परोपकारनिरत प्राकृत वस्तुओं, सूर्य, चन्द्र, वायु, जल आदि के उदाहरण से ईश्वर हमें यह शिक्षा देता है कि हम भी परोपकारी बनें और प्रत्युपकार की इच्छा न रक्खें—संसार में तीन प्रकार के मनुष्य हैं—बुराई करने वाले के प्रति बुराई करने वाले, भलाई करने वाले के प्रति भलाई करने वाले और भलाई न करने वाले के प्रति भलाई करने वाले—अन्तिम प्रकार के मनुष्य ही परोपकारी हैं—दूसरे सर्व-साधारण संसारी पुरुष जो 'इस हाथ दे उस हाथ ले' पर आचरण करने

वाले हैं—परमात्मा ने मनुष्य को सब जीवों में श्रेष्ठ बनाया है--मनुष्य की श्रेष्ठता किस बात में है?—खाना, सेना, भय, सन्तति को पालना, इन से मनुष्य श्रेष्ठ नहीं है; क्योंकि यह तो पशु और पक्षियों में भी पाया जाता है—सौन्दर्य भी नहीं; क्यों कि हिरण की आंख, तोते की नाक, कोयल का स्वर ममनुष्य से बहुत अच्छा है—मनुष्य की वास्तविक श्रेष्ठता परोपकार में ही है—शिक्षा सर्वश्रेष्ठ परोपकार है—'टुकदेवा मरे और सिख-देवा जिये'—अपात्र में दिया हुआ दान मनुष्य को पातकी बना देता है-यह परोपकार नहीं है—परोपकार वह है जिस से दूसरे को कोई हानि न पहुँचे—

--श्री गङ्गाप्रसाद एम० ए०, (बा० निबन्धमाला)

२८--प्रतिज्ञा-पालन

प्रतिज्ञा-पालन मनुष्य का बहुत बड़ा गुण है—इस से मनुष्य का कल्याण होता है और वह विश्वास-पात्र बन जाता है--प्रतिज्ञा-पालन न करने से लोगों में विश्वास उठ जाता है और वह झूठा समझा जाता है-'झूठे की काई जगत् में करे प्रतीति न भूल'—'रघु कुल रीति सदा चलि आई। प्राण जायँ पर वचन न जाई॥'—उदाहरण—रामचन्द्र-हरिश्चन्द्र—संसार में बहुत से सम्बन्ध प्रतिज्ञा पर ही निर्भर हैं—यज्ञोपवीत द्वारा गुरु-शिष्य-सम्बन्ध, विवाह द्वारा पति-पत्नी-सम्बन्ध—प्रतिज्ञा सदा अच्छी बात के लिए करनी चाहिए—यदि भ्रम से किसी बुरे काम के लिए प्रतिज्ञा कर भी ली जाय, तो भ्रम दूर हो जाने पर जिस से प्रतिज्ञा की हो उस से कह देने और प्रतिज्ञा भङ्ग कर देने ही में कल्याण है—प्रतिज्ञा दो प्रकार से

की जाती है—मन से और वाणी से—न केवल वाणी से परन्तु मन से की हुई प्रतिज्ञा का भी पालन अवश्य करना चाहिए—हमें चाहिए कि हृदय में अच्छे विचार उठते ही हम भली प्रकार विचार कर उन्हें पूरा करने की प्रतिज्ञा करें और परमात्मा से प्रार्थना करें कि वे हमें प्रतिज्ञा-पालन की शक्ति प्रदान करें।

—श्री गंगाप्रसाद एम० ए०, (बा० निबन्धमाला)

२९—प्रातः काल शीघ्र उठना

संसार के बहुत से बड़े बड़े व्यक्ति प्रातःकाल जल्दी उठने वाले हुए हैं—डीन स्विफ़्ट नाम के अंग्रेज़ लेखक का कहना है कि जो आदमी सूरज निकलने तक सोता है वह कभी बड़ा आदमी नहीं बन सकता—अन्य भी अनेक विद्वानों का यही मत है—पीटर दि ग्रेट, फ़ैडरिक दि ग्रेट, नैपोलियन, अकबर, सभी जल्दी उठते थे—जल्दी उठने के लिए रात को जल्दी सो जाना भी आवश्यक है—इस आदत से मनुष्य बहुत-सी बुराइयों से बच जाता है—यदि हम अपने दिन भर का काम प्रोग्राम बना कर करें तो शीघ्र ही जल्दी उठने की आदत डाल सकते हैं—शास्त्रों में भी जल्दी उठने का विधान है—प्रातःकाल जो काम किया जाता है वह बहुत अच्छा और शीघ्र होता है-उस समय की सैर भी बहुत लाभदायक है।

—श्री गौरीशंकर शुक्ल, (आदत डालने का अभ्यास)

३०—ब्रह्मचर्य

शरीर खून, हड्डी, मांस, मेदा, वीर्य और चरबी आदि से बना है-जब तक इन की गति प्रकृति के अनुकूल रहती है मनुष्य

स्वस्थ रहता है – प्रकृति के नियमों को तोड़ना स्वास्थ्य के लिए घातक है--बचपन से युवावस्था तक उपर्युक्त तत्त्वों का विकास होता रहता है–वीर्य सब से प्रधान है—वीर्य की रक्षा ही स्थूल ब्रह्मचर्य है--मानसिक ब्रह्मचर्य शारीरिक ब्रह्मचर्य से भी अधिक आवश्यक है–मानसिक ब्रह्मचर्य का अभिप्राय है मन पर पूर्ण निग्रह—मनोविकार मनुष्य को दुर्मार्ग की ओर ले जाते हैं—साधना—शारीरिक ब्रह्मचर्य के लिए शिक्षा और अनुकूल वातावरण की आवश्कता है।

—श्री चन्द्रराज भण्डारी, (नैतिक जीवन)

३१—भाग्य और उद्यम

कुछ मनुष्य मानते हैं कि हमारा सुख-दुःख भाग्य (अर्थात् पूर्व जन्म में किए हुए कर्मों) के आधीन है–दूसरों का सिद्धान्त है कि हमारे अपने उद्यम से सुख और आलस्य से दुःख होता है—कोई कहता ह कि पिछले जन्म के कर्मों का और वर्तमान समय के कर्मों का भी फल मिलता है, परन्तु कुछ आकस्मिक घटनाएँ ऐसी भी हो जाती हैं कि जिन का भाग्य वा उद्यम दोनों से कुछ सम्बन्ध नहीं रहता—वर्षा यदि मनुष्य के कर्मों के अधीन नहीं तो मनुष्य मकान बना कर वा छतरी लगा कर भीगने से बच सकता है—प्रत्येक सिद्धान्त के मानने वाले को उद्यम अवश्य करना चाहिए—ऐसे करने से हमें कोई हानि नहीं प्रत्युत लाभ ही होगा—उद्यम को न कोई छोड़ता है और न छोड़ सकता है—पेट भरने के लिये सभी उद्यम करते हैं—प्राणप्रिय पुत्र के बीमार हो जाने पर लोग अनेक प्रकार के उपाय करते हैं—भाग्य पर विश्वास करने

वाले भी जिन कामों को वे अत्यावश्यक न समझें उन्हीं को भाग्य के भरोसे छोड़ते हैं—भाग्य पर थोड़ा विश्वास करना भी मनुष्य को आलसी बना देता है—अतः पुरुष को सदा उद्योगी होना चाहिये।

—श्री सूरजभानु वकील, (जीवन-निर्वाह)

३२—भाग्य और कठिनाइयाँ

भिन्न भिन्न धर्मावलम्बियों के मत से भाग्य की व्याख्या—हिन्दुओं के भाग्य का विस्तार और महत्त्व—भाग्य का सफलता के साथ सम्बन्ध—भाग्य सापेक्ष है—भाग्य और दैव—दैव-वादियों की भूल—क्या भाग्य की कल्पना एक दम निरर्थक है?—भाग्य-सम्बन्धी भ्रमात्मक धारणा—भाग्य का मनुष्यमात्र के साथ सम्बन्ध—इस सम्बन्ध का स्वरूप—कर्म का अवश्यम्भावी फल—सञ्चित प्रारब्ध, क्रियमाण और भावी—सब की दोहरी व्याख्या—प्रकृति और भाग्य—संसार के अधिकांश व्यापारियों का वास्तविक दुर्भाग्य—देश, काल और समाज आदि का भाग्य से सम्बन्ध—उद्योग की प्रधानता—शक्तिवृद्धि के उदाहरण—समय की दुहाई देना बिल्कुल व्यर्थ है—वास्तव में समय क्या है—चढ़ाऊपरी और लाग डाँट—बढ़ने वाली कठिनाइयों का स्वरूप—नौकरी और व्यापार की कठिनाइयां—कठिनाइयों का उत्तरोत्तर बढ़ना अनिवार्य है—कठिनाइयों को तुच्छ समझने से ही सफलता हो सकती है।

—बाबू रामचन्द्र वर्मा (सफलता और उस की साधना के उपाय)

३३—मटर

मटर एक बहुत ही स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ है—इस की सब्ज़ी बड़े चाव से खाई जाती है—मटर दो प्रकार के होते हैं—

छोटी बेल वाले और लम्बी बेल वाले—छोटी बेलें दो महीने में फल जाती हैं, और बड़ी तीन चार महीनों के बाद—दोनों ही स्वादिष्ट हैं—मटरों की खेती एक साथ न बो कर अक्टूबर में दस दस दिनों के व्यवधान से बोनी चाहिये ताकि सब मटर एक साथ न फलें—ज़मीन को खूब अच्छा खोद लेना चाहिये—एक महीना पहले खाद डाल कर तब जुताई करनी चाहिये—एक वर्ग फुट में आठ दस बीज बोने चाहिये—साधारणतया उसे डेढ़ या दो इञ्च गहरा रखना चाहिये—बेलों के सहारे के लिए दो दो फुट के अन्तर पर सीधी खड़ी लकड़ियां गाड़ देनी चाहिएं—मटर को जब एक बार पानी दे दिया जाय उस के बाद ज़मीन को सूखने नहीं देना चाहिए—निराई भी सदैव करते रहना चाहिए—भरी फली अगर तोड़ न ली जाय तो फलियां कम लगती हैं—भारत में विदेशों से आकर डिब्बे में भरी हुई मटर बिकती है—यह व्यवसाय इस देश में भी चल सकता है।

—पं० श्रीराम शर्मा, (विशाल-भारत, सितम्बर १९३२)

३४—मनुष्य का मनुष्यत्व

मनुष्य-जीवन पशु जीवन की अपेक्षा अत्यन्त उन्नत सुखमय तथा श्रेष्ठ है—जिन बातों के कारण यह अन्तर है वही मनुष्य का मनुष्यत्व है—उसे स्थिर रखना वा उन्नत करना मनुष्य का परम धर्म है—मनुष्य का मनुष्यत्व तीन श्रेणियों में विभक्त है-(१) विचार शक्ति—मनुष्यत्व को बढ़ाने वाले नये उपायों का सोचना और प्राचीन असुविधाजनक उपायों का छोड़ना-(२) वचनशक्ति-अपने पूर्वजों के तथा अपने अनुभव की बातें उत्तरोत्तर बालकों और नवयुवकों को बताना—(३)

और पारस्परिक सहायता--प्रत्येक प्रकार से एक दूसरे का कष्ट दूर करना इन तीनों बातों के सदुपयोग से लाभ और दुरुपयोग से हानि होती है—आग से रोटी बनाना, धातुएं गला कर बर्तन सिक्के अथवा आभूषण बनाना, ऐंजिन बना कर इस के द्वारा रेलगाड़ियां तथा अनेक प्रकार के कारखाने चलाना आदि आग का सदुपयोग है—उसी आग से लोगों के घर जलाना, बन्दूक अथवा तोप के द्वारा गोले फेंक कर मनुष्य का नाश करना आदि आग का दुरुपयोग है—अतः इन तीनों शक्तियों का सदुपयोग करना चाहिए—इन में उन्नति भी अवश्य करनी चाहिए—नये आविष्कारों का छिपाना जाति की उन्नति के मार्ग में बाधा है—वचन-शक्ति का काम लिखने से भी लिया जाता है-यह अधिक उपयुक्त है—छापने की कला अत्यन्त सुविधाजनक है—तार, टैलीफ़ोन, बिना तार का तार आदि अपने विचारों को दूसरों तक पहुँचाने के अत्युत्तम साधन हैं—इन के सदुपयोग से जितना लाभ हो सकता है, दुरुपयोग से उतनी ही हानि भी हो सकती है—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का आवेग ही इन के दुरुपयोग का कारण है—पशुओं में वचनशक्ति न होने से वे न तो झूठ बोल सकते हैं और न किसी को धोखा ही दे सकते हैं--मनुष्यत्व के दुरुपयोग से मनुष्य-जीवन पशु-जीवन से भी नीच हो जाता है—संसार के किसी मनुष्य को दुःख पहुँचाने से मनुष्य-मात्र को हानि होती है—मनुष्य को मनुष्य बनने का यत्न करना चाहिए—परोपकार, सत्य, सन्तोष, शील, अनासक्ति आदि मनुष्यत्व के सहचारी हैं।

—श्री सूरजभानु वकील, (जीवन निर्वाह)

३५—मनोनिग्रह

मन को वश में रखने का नाम मनोनिग्रह है—मनोनिग्रह का सब से अच्छा उपाय यह है कि मनुष्य जो कुछ करने की ठान ले, फिर उस से न टले—सांसारिक दृष्टि से मनोनिग्रह बड़े काम की चीज़ है—मनुष्य यदि अपना आदर्श और अपनी इच्छाएं रोज़ बदलता रहे तो वह कभी सफल नहीं हो सकता—आज-कल संसार में उतावलापन बढ़ रहा है—बहुत से लोग अपना पेशा बदलते रहते हैं—ऐसे लोगों का जीवन बेपेंदे के लोटे के समान होता है—दृढ़ इच्छा-शक्ति और मनोनिग्रह का उदाहरण ; कोलम्बस, सिकन्दर, समुद्रगुप्त आदि हैं—काम में सफलता मिलना या न मिलना ईश्वर के अधीन है—परन्तु यदि कोई जुट कर भरकस मेहनत कर लेता है तो असफल होने पर भी उसे निराशा नहीं होती ।

—पं० गौरीशङ्कर शुक्ल, (आदत डालने का अभ्यास)

३६—मितव्यय और अपव्यय

शारीरिक और मानसिक शक्तियों के अतिरिक्त आर्थिक शक्ति की भी कार्यसिद्ध के लिए आवश्यकता होती है—धन की विपुलता ही आर्थिक-शक्ति है—अधिक आय वाले भी निर्धन और कम आय वाले भी धनी हो सकते हैं—धनी होना आय पर निर्भर नहीं किन्तु उस के उपयोग पर निर्भर है—आय में से कुछ बचाने का अभ्यास अवश्य करना चाहिए—आवश्यकताएं नियमित करने से आय का कुछ भाग बच जाता है—मितव्ययता के बिना एक बेर लिया हुआ ऋण कभी उतरता नहीं—अतः मानसिक चिन्ता,अपयश, अविश्वासी और शक्ति-

हीन होने का भागी बनना पड़ता है—ऋणी की बहुत दुर्दशा होती है—परिश्रम कम करना वा व्यय अधिक करना ऋण लेने का कारण है—ऋण उतारने की एकमात्र विधि अधिक परिश्रम और मितव्ययता है—कोई काम प्रारम्भ करने के लिए ऋण न लेना चाहिए—विवाह आदि के लिए ऋण न लेना चाहिए—ऋण लेकर उत्सव करना अत्यन्त मूर्खता है—मितव्ययता का अर्थ कृपणता नहीं है—कृपणता महादोष है और अभ्युदय के मार्ग में बलवती बाधा है—अपव्यय और कृपणता दोनों ही असुखकर और अनिष्टकर हैं—अर्थशक्ति के लिए मितव्यय करना और अपव्यय रोकना आवश्यक है—आवश्यक व्यय ही मितव्यय है—हठीली और परिणाम-भयङ्करी सभ्यता के प्रलोभनों में फँसकर अपव्यय कभी नहीं करना चाहिए—'इदमेव हि पाण्डित्यमियमेव विदग्धता । अयमेव परो धर्मो लाभात् स्वल्पतरो व्ययः ॥'

—श्री चन्द्रशेखर शास्त्री, (सिद्धि)

३७—मेले

मेले हर देश में होते हैं—परन्तु सब से अधिक भारतवर्ष में—मेले कई प्रयोजनों से लगाए जाते हैं—व्यापार के लिए पेंठ, वैशाखी, दिवाली—ऐसे मेलों में ही प्रदर्शनियां भी गिनी जा सकती हैं—धर्म-शिक्षा के लिए किसी नदी पर अथवा किसी तीर्थ पर—गङ्गा के किनारे पर, हरिद्वार, मथुरा, जगन्नाथ पुरी—प्रतीत होता है कि पहले पहल ये मेले लगने का प्रयोजन यह था कि नदियों के किनारों पर रहने वाले बड़े बड़े ऋषियों और महात्माओं से उपदेश सुनने के लिए एक

तिथि पर लोग वहा जाया करते थे—अब वे मुनि तो नहीं रहे, किन्तु परिपाटी वही चली जा रही है—राष्ट्रीय बातों के मेले—खेल कूद के मेले—रागविद्या के मेले—मेलों से लाभ—परस्पर मेल—वस्तुविनिमय—कला-कौशल की उन्नति—स्वास्थ्य—देशाटन का अभ्यास—

—श्री गङ्गाप्रसाद् एम० ए०, (बा० निबन्धमाला)

३८—युद्ध से हानियां

मनुष्य साधारणतया हत्या को भारी अपराध गिनते हैं—मज़दूर और किसान भी आपस में लड़ने को बुरा मानते हैं—परन्तु सेना में शामिल होकर ये लोग ही जब युद्धों पर जाते हैं तो निरपराध मनुष्यों की हत्या में गौरव अनुभव करते हैं—आज-कल संसार भर के देश एक दूसरे से डरते हैं—वास्तव में युद्ध से प्रजा का लाभ नहीं होता—सिर्फ़ थोड़े से स्वार्थी पूंजीपतियों का स्वार्थ सिद्ध होता है—इन युद्धों को बन्द करने का उपाय यह है कि प्रजा को युद्धों की हानियां समझाई जाएं—जो लोग आपस में एक दूसरे की हत्या करना चाहते हैं उन की प्रशंसा न कर निन्दा ही करनी चाहिए—अगर ग़रीब लोग लड़ाई में भरती होने से इन्कार कर दें तो लड़ाइयां स्वयं बन्द हो जाएं—इस समय तक अनेक देशों में लड़ाई के अवसर पर ज़बरदस्ती भरती की जाती है—परन्तु यदि जनता सुशिक्षित हो जाय तो ऐसा नहीं हो सकता—मनुष्य को अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ सुननी चाहिये—अन्तरात्मा हत्या के कार्य को कभी उचित नहीं बता सकती—

मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह संसार में सार्वभौम भ्रातृभाव को स्थापित करने का प्रयत्न करे।

—टालस्टाय, (टालस्टाय के सिद्धान्त)

३९—युवावस्था का उपयोग

मनुष्य-जीवन के चार भाग—बचपन, यौवन, मध्यमावस्था, बुढ़ापा—सब का अपना अपना उपयोग—युवावस्था मानव-जीवन-रूपी इमारत की कुर्सी है—आत्मिक शक्तियों के विकास का काल—स्वास्थ्य ज्ञान और सद्गुणों का संग्रह—युवावस्था की स्वतन्त्रता को अनुचित कार्यों में न लगाना चाहिये—कुसङ्गति से बचना—युवावस्था में मनुष्य की अविवेकता उसे कुमार्ग में खींचती है—विचारों की स्वतन्त्रता—ईश्वर-निष्ठा से चित्त-वृत्तियां शुद्ध और सात्विक बनती हैं—विनय—युवावस्था का ताज़ा खून अविनीत बनाता है, उस से बचना चाहिए—स्वदेश-प्रेम—सत्य-प्रियता—जो मनुष्य युवावस्था में असंयमी रहता है वह बाद में समाज के लिये कण्टक बन जाता है—इन्द्रिय-निग्रह—युवावस्था में सफलता-प्राप्ति की कुञ्जी सतत उद्योग है।

—श्री माधवराव सप्रे,(जीवन संग्राम में विजयप्राप्ति के कुछ उपाय)

४०—लोक-लज्जा

जब अपने और आत्मीय-वर्ग के धन, धर्म और प्रतिष्ठादि पर कड़ी आंच आए तो लोक-लज्जा को त्याग कर स्वत्वरक्षा कर्तव्य है—सर्वदा लोक-लज्जा के त्यागने से हानि—स्वतन्त्रता का अर्थ 'अपने निर्वाह के निमित्त दूसरों का मुखावलोकन न करना' है न कि निरंकुशता—संसार में पूर्णरूप से

स्वतन्त्र कोई नहीं है—छोटे बड़े सब को एक दूसरे की अपेक्षा रहती है— निरी स्वेच्छा-चारिता किसी के पक्ष में ठीक नहीं—सभी को पञ्च और परमेश्वर की ओर ध्यान रखना चाहिए—नेताओं को विशेषतः सर्वसधारण की रुचि पर ध्यान रखना चाहिये—ऐसे न करने से असफलता अथवा अधूरी सफलता—बहुत से लोगों को अपना साथी बनाए रखना बृहज्जीवन के लिये आवश्यक है—संसार में सच्चे मित्र का मिलना बड़े भाग्य से होता है परन्तु साधारण हितेच्छुओं का समुदाय लोक-लज्जा का ध्यान रखने से मिल सकता है—'पञ्चों शामिल मर गया जैसा गया बरात।'

—श्री प्रतापनारायण मिश्र, (सुचाल शिक्षा, प्रथम भाग)

४१—विद्या

वस्तु का यथार्थ ज्ञान विद्या है–विद्या से हार्दिक अन्धकार दूर होता है—विद्वान् के चार आँखें होती हैं; दो बाहरी और दो भीतरी—विद्या सब आभूषणों से अच्छा आभूषण है—विद्वान् का मान सर्वत्र, सर्वदा और सर्वाधिक होता है—विद्या सब धनों से उत्तम धन है—संसार के सब कार्य विद्या ही से चलते हैं—रेलगाड़ी, तार, जहाज़, कपड़ा बुनना, मकान बनाना, खेती बाड़ी करना आदि सब विद्या ही के बल पे है—विद्या के अभाव से अब भी कई जातियाँ असभ्य पड़ी हैं—विद्या केवल पुस्तकें पढ़ने से ही नहीं किन्तु वस्तुओं के सम्यक् अवलोकन से भी प्राप्त होती है—महाराजा रणजीत सिंह पढ़े लिखे न थे; परन्तु अच्छे अच्छे विद्वान् उन से हार मानते थे—

"उत्तम विद्या लीजिए यदपि नीच पै होय।
पड़ो अपावन ठौर में कंचन तजै न कोय॥"

—श्री गंगाप्रसाद एम० ए०, (बा० निबन्धमाला)

४२—विश्वविद्यालयों की शिक्षा का आदर्श

युनिवर्सिटी की दुनिया मार्ग-दर्शक पत्थरों के समान है—यह बताती है, हम इतना चल लिए, बस—वास्तव में मनुष्य की शिक्षा उस दिन से शुरू होती है, जब वह ग्रैजुएट बनता है—विश्वविद्यालय तो जीवन की परीक्षा में सफलता-प्राप्ति के साधनमात्र हैं—यही उन की सब से बड़ी उपयोगिता है—युनिवर्सिटी का उद्देश्य सिर्फ़ किताबी शिक्षा देना नहीं; उस का उद्देश्य देश के बालकों और कुमारों को संस्कृत सभ्य बनाना है, उन का चरित्र-गठन करना है–मनुष्य की खूबी उस का मस्तिष्क है और शिक्षा का आदर्श यह है कि वह उस के मस्तिष्क को विकसित और स्वाधीनता-पूर्वक सोचने वाला बनाए—मस्तिष्क के विकास का आधार भी अपनी शक्तियों पर, अपने विवेक पर विश्वास होना है–विश्वविद्या-लयों की शिक्षा मनुष्य में यही विश्वास उत्पन्न करती है-यूनान के एक वक्ता ने कहा था—"आदमियों से शहर बनता है, दीवारों और मकानों से नहीं ।"–देश के निर्माण में भी उस के नदी नाले उतना कार्य नहीं करते जितना उस के निवासियों की बुद्धि और शक्ति-सम्पन्नता—विश्वविद्यालयों का आदर्श इसी ढंग के नागरिक उत्पन्न करना है—विश्वविद्यालयों का जीवन सादगी और कष्ट-सहन का होना चाहिए—भोग विलास के लिए तो सारी आयु पड़ी है—यह विद्यार्थी-जीवन वास्तव में तैयारी का जीवन है ।

—सर राधाकृष्णन, (विशाल भारत, फ़रवरी, १९३१)

४३—शारीरिक स्वास्थ्य

जीवन सुख और दुःख का मिश्रण है—प्रत्येक मनुष्य सुख की इच्छा करता है—सुख-प्राप्ति के उपाय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन सब का आधार शारीरिक स्वास्थ्य है—ग्रामों की अपेक्षा नगर बढ़ रहे हैं—नगरों का वायुमण्डल स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होता—शारीरिक स्वास्थ्य के उपाय—सब से पहला पूर्ण इन्द्रिय-दमन, अर्थात् ब्रह्मचर्य—भीष्म, हनुमान, दयानन्द आदि के उदाहरण—स्नान, भोजन, स्वच्छता—वायुसेवन और व्यायाम—सैर के गुण—नींद पूरी लेनी चाहिये—शारीरिक स्वास्थ्य का मूल कारण मन है, अतः मन का संयम—व्यायाम में भी मन की इच्छा-शक्ति का बड़ा महत्त्व है—सैण्डो का उदाहरण।

—श्री माधवराव सप्रे, (जीवन-संग्राम में विजय प्राप्ति के कुछ उपाय)

४४—सङ्गी-साथी

यदि तुम धनी हो अथवा तुम्हारे धनी वा उच्च पदधारी होने की सम्भावना है तो अनेक प्रकार के लोग तुम्हारे पास आवेंगे और अपने आप को तुम्हारा शुभचिन्तक बतावेंगे—ये सब स्वार्थी साथी हैं—इन की बनावटी बातों में मत आवो—अपने असली और नकली साथियों में विवेक करो—नकली साथियों की अप्रसन्नता से तुम्हें कोई हानि नहीं है—असली सङ्गी-साथी की परीक्षा विपत्ति ही है—नकली मित्रों की बातों में आकर अपने असली मित्र को मत छोड़ो—अपना सङ्गी-साथी बनाने में पूर्ण सावधानता से काम लो—मित्रता के लिए

किसी बहुत बड़े आदमी के द्वार पर मत जाओ—जिस के उद्देश्य तुम्हारे उद्देश्य से मिलते हों उस से मैत्री करो—मैत्री में दिखाऊ बातें नहीं होतीं—मित्र का मित्र के प्रति कर्तव्य—समय पर सहायता करना।

—श्री चन्द्रशेखर शास्त्री, (सिद्धि)

४९—सच्चरित्रता

सच्चरित्रता की प्रधानता—इस का दूसरे मनुष्यों पर प्रभाव—यह वशीकरण मन्त्र है—यह सब प्रकार की उन्नतियों का मूल है—इसे दम्भ और ढोंग पसन्द नहीं—यह शुद्ध हृदय और आत्म-संयम की सहचरी है—यह कुलीनता का चिह्न, मनुष्यता का लक्षण और मानव सिद्धि का प्रधान साधन है—यह एक बड़ी सम्पत्ति और आदर और अभ्युदय का कारण है—धन की अपेक्षा सच्चरित्रता श्रेष्ठ है—दुर्जनों से मनुष्य को अनेक प्रकार की हानिएं होती हैं—उन के लिए यदि कोई वज्र है तो वह सच्चरित्रता है—पशु और मनुष्यों में भेदक गुण सच्चरित्रता ही है—संसार के समस्त महा-पुरुषों की उच्चता का मूलमन्त्र सच्चरित्रता ही है—प्राकृत और नैतिक सिद्धान्तों का पालन ही सच्चरित्रता है—सच्चरित्रता राजा और प्रजा दोनों के लिए कल्याणकारी है—'वृत्तं यत्नेन संरक्षेत् वित्तमायाति याति च'—यह प्राचीन वचन है—कार्यों में असफलता का कारण सच्चरित्रता का अभाव है— चरित्र-हीन पुरुष हास्यास्पद बन जाता है—चरित्रहीन पुरुष को विपत्तिएं घेर लेती हैं—सच्चरित्रता का ढोंग अधिक देर नहीं चल सकता—चरित्र-हीनता मनुष्य में सद्गुणों के निकल जाने और दुर्गुणों के घुस

आने के लिए छिद्र है—चरित्रहीनता राक्षस, अज्ञान और शैतान के समान है—संसार को नष्ट भ्रष्ट कर देना इस के लिए कोई बात नहीं—सच्चरित्रता से लाभ होता है, सिद्धि मिलती है।

—श्री चन्द्रशेखर शास्त्री, (सिद्धि)

४६—सत्य-निर्णय

मनुष्य जब से उत्पन्न हुआ है, सत्य की खोज कर रहा है, परन्तु सत्य का स्वरूप जाना नहीं जा सका—सत्य का अन्तिम निर्णय किए बिना भी काम चल सकता है, परन्तु सत्य का स्वरूप निश्चित किए बिना एक दिन भी काम नहीं चल सकता—मनुष्य अल्पशक्ति है, ईश्वर सर्वज्ञ है—वास्तविक सत्य तो ईश्वर ही जानता है, परन्तु मनुष्य को सत्य का जितना भी रूप अनुभव होता है, उसे उसी पर चलना चाहिये—प्रत्येक मनुष्य सत्य को अपनी अपनी दृष्टि से देखता है—सत्य के सम्बन्ध में दो धारणाएँ हैं—एक का कहना है कि मनुष्य स्वयं अल्पशक्ति होने से सत्य का पूर्ण ज्ञान कर ही नहीं सकता, अतः उसे किसी बात पर आग्रह नहीं करना चाहिये—दूसरे लोगों का कहना है कि मनुष्य जिसे सत्य समझ लेता है उस पर उसे पहाड़ की तरह डट जाना चाहिए—वास्तव में इन दोनों पक्षों में सचाई है—जो बात हमें सत्य प्रतीत होती है, उसे यदि हम किसी भय या प्रलोभन से असत्य मान लें तो यह कायरता होगी—इसी तरह अल्पज्ञ होते हुए भी यदि मनुष्य अपने को ईश्वर के समान सच्चा और शङ्कारहित समझ लेता है और अपने से विभिन्न मत के लोगों को मूर्ख और झूठा समझ लेता है, वह मिथ्याभिमानी और पाखण्डी है—सत्य का एक और स्वरूप

भी है—समाज व्यक्ति से कहता है कि तुम मेरा आदेश मानो—होता भी यही है—मनुष्य को, बहुत बार कई बातें अनुचित और असत्य प्रतीत होती हैं—परन्तु उन्हें समाज के डर से करना ही पड़ता है—वास्तव में व्यक्तित्व और समष्टिवाद में उचित समन्वय करने की आवश्यकता है।

—काका कालेलकर, (जीवन-साहित्य)

४७—सत्संग "dhaman"

मनुष्य अकेला नहीं रह सकता, उसे सङ्ग के लिए कोई न कोई अवश्य चाहिए—उस की जीवन-यात्रा के लिये अनेक सहायकों की आवश्यकता है—एक अन्न को ही ले लीजिए—जो रोटी हम खाते हैं उस के बनाने में सैंकड़ों मनुष्यों के हाथ लगे हैं—लुहार, बढ़ई, बीज लाने वाले, खेत में डालने वाले, हल जोतने वाले, पानी देने वाले, रक्षा करने वाले, काटने वाले, भूसा अलग करने वाले, बाज़ार ले जाने वाले, बेचने वाले, ख़रीदने वाले, चक्की बनाने वाले, पीसने वाले, पाचक आदि—केवल रोटी ही नहीं प्रत्येक वस्तु कपड़ा, मकान आदि—केवल सङ्ग ही से हम को प्राप्त होती है—सङ्ग अनिवार्य होते हुए हमें दुस्सङ्ग नहीं वरंच सत्सङ्ग ही करना चाहिए—मनुष्य सत्सङ्ग से सज्जन और दुस्सङ्ग से दुर्जन हो जाता है—सत्सङ्ग से दुर्जन भी सज्जन और दुस्सङ्ग से सज्जन भी दुर्जन समझा जाता है—कोयलों की दलाली में मुँह काला—ख़र्बूज़े को देख कर ख़र्बूज़ा रङ्ग बदलता है—बाल्यावस्था से ही सत्सङ्ग करना श्रेयस्कर है।

—श्री गङ्गाप्रसाद एम० ए०, (बा० निबन्धमाला)

४८—समय का सदुपयोग

जीवन की निस्सारता—समय का नाश—समय का सदुपयोग ही मनुष्य को सर्वगुणसम्पन्न बनाता है—व्यवस्था—समय और अवसर—एक उदाहरण—बाल्यवस्था के संस्कार—कुछ उपयोगी सिद्धान्त—प्रत्येक बात से कुछ शिक्षा लो—सवेरे और देर से दूकान खोलने वाले दूकानदार—दोनों की तुलना—समय की पाबन्दी।

—बाबू रामचन्द्र वर्मा, (सफलता और उस की साधना के उपाय)

४९—सहनशीलता का अभाव

मनुष्यों के रूप रंग की तरह उन की इच्छाएं, आवश्यकताएँ, विचार और स्वभाव भी भिन्न हैं—मनुष्य का काम मेल-जोल और पारस्परिक सहायता से ही चलता है—सहनशीलता से मेल-जोल बढ़ता है—माता पुत्र के प्रति बहुत सहनशील होती है—मनुष्य सहनशीलता ही से एक स्थान में दूसरों के साथ सुख-शांति-पूर्वक रह सकता है—किसी के हर्ष अथवा शोक को अपनी परिस्थिति के प्रतिकूल होने पर भी सह लेना चाहिये—परस्पर मेल के लिये थोड़ा कष्ट उठा लेने में भी कोई हानि नहीं है—धार्मिक विषयों में भी सहनशीलता परमावश्यक है—'तीनों फूटे न मिलें मन, मोती अरु दूध'—जिस प्रकार सांसारिक साधारण विषयों में विचार-विरोध होने पर कोई बुरा नहीं मानता, इसी प्रकार धार्मिक विषयों में भी मतविरोध होने पर सहनशीलता से काम लेना चाहिये—सहनशीलता के अभाव से परस्पर क्लेश बढ़ता है।

—श्री सूरजभानु वकील, (जीवन-निर्वाह)

५०—सोना

सोने का नाम भी सुखदायी है—यदि नींद न मिले तो अगला दिन दिन ही न मालूम पड़े—नींद की ही शक्ति है कि वह दुःख, दर्द, भूख, चिन्ता सभी कष्टों को भुला देती है—यह बात और है कि जब ये कष्ट बहुत बढ़ जाते हैं तो नींद आने ही नहीं पाती—सोने का दूसरा अर्थ है सुवर्ण—यह चमकीली धातु है, जिस पर दुनिया मरती है—सोना वर्तमान संसार की सब से बड़ी शक्ति है—उस के आभूषण स्त्रियों का मन मोहते हैं और मुद्राएँ पुरुषों का—परन्तु सच पूछो तो सोना आफ़त की जड़ है—नींद आदमी को ग़ाफ़िल बना देती है और सोना (धातु) पुरुष में घमण्ड भर देता है—सोने के लिए बाप-बेटा, भाई भाई तक लड़ मरते हैं—फिर भी दोनों में छिपा लेने की बड़ी शक्ति है—नींद चिन्ताओं को छिपाती है और सोना दोषों को।

—श्री प्रतापनारायण मिश्र, [निबन्ध-नवनीत]

५१—संस्कृतियों का संघर्ष

यूरोप और एशिया की संस्कृति और सभ्यता में कुछ आधारभूत भेद है—दो सौ साल पहले पश्चिम ने भारतवर्ष की सभ्यता पर आक्रमण शुरू किया था—भारतीय जनता उस प्रवाह में बहने भी लगी—परन्तु अब पुनः भारतीय संस्कृति में जीवन आ रहा है—भारतीय संस्कृति ही एशिया की संस्कृति की जननी है—इस देश में गौतम बुद्ध जैसे आचार्यों ने सिखाया था कि शत्रु को दया से जीतो, झूठ को सत्य से जीतो और व्यभिचारों को ब्रह्मचर्य से जीतो—उधर यहूदी जानते थे कि यदि कोई तुम्हारी एक आंख फ़ोड़े तो तुम उस की दोनों फोड़

दो—एक यहूदी युवक ने महात्मा बुद्ध की शिक्षाओं को सुना, और उसे आत्म-बोध हो गया—यह ईसा था—उस ने भारतीय संस्कृति का सन्देश नए रूप में यूरोप को दिया—कालान्तर में यूरोप पुनः अपने उसी प्रवाह में बह गया—आज से कुछ सौ साल पहले यूरोप के लोग एशिया में आए—एशिया-वासियों ने उन से मेहमानों का सलूक किया परन्तु उन्हों ने एशिया पर कब्ज़ा ही कर लिया—एशिया के लोग राजनीतिक दृष्टि से अकर्मण्य हो रहे थे—उन्हों ने यूरोप की धांधली सह ली—क्रमशः यूरोप की संस्कृति हमारी सभ्यता पर विजय पाने लगी—मगर उन्हीं दिनों स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ—उस ने चलती धारा को बदल दिया—उस के कार्यों का आज यह फल है कि भारतवर्ष जाग गया है और अब यह फिर से अपनी संस्कृति के पुनरुद्धार का प्रयत्न कर रहा है।

—श्री स्वामी सत्यदेव, (विशाल भारत, मई, १९३२)

५२—स्वाधीनता

रुकावट के अभाव का नाम स्वाधीनता है—पानी और हवा का उदाहरण—घोड़ा खूंटे से छूट कर स्वाधीन होता है और कैदी कैदख़ाने से निकल कर—प्रत्येक प्राणी स्वभाव ही से स्वाधीनता-प्रिय है—अपनी इच्छा से बुलाई हुई मृत्यु भी मनुष्य को पराधीनता से अधिक अच्छी लगती है—पूर्ण स्वाधीनता कहीं भी नहीं है—सब प्राणी एक दूसरे पर आश्रित हैं ; अतः उन्हें एक दूसरे की परवाह करनी पड़ती है, और अपनी स्वाधीनता को रोकना पड़ता है—तथापि सब मनुष्य स्वाधीनता के लिए सतत प्रयत्न कर रहे हैं—विज्ञान और शिल्प का यही रहस्य है कि मनुष्य प्रकृति की ग़ुलामी से

छुटकारा पाना चाहता है—मनुष्य ने समाज, धर्म और राजनीति के बन्धनों से छूटने के लिए समय समय पर जो प्रयत्न किए हैं उन से इतिहास भरा पड़ा है—यही नियम मनुष्य को उन्नति की ओर ले जाता है—पूर्ण स्वाधीनता एक आदर्श है जो अप्राप्य होते हुए भी मनुष्य को अपनी ओर खींचता रहता है—मनुष्यों के मिलने से समाज की उत्पत्ति हुई—और समाज व्यक्ति की स्वाधीनता में बाधक है—फिर भी समाज व्यक्ति को कुचल नहीं सकता—व्यक्ति की अनेक भावनाओं को यदि समाज स्वाधीनता नहीं देगा तो वे समाज का ही नाश कर देंगी—जब जब ऐसा होता है तब तब क्रान्ति होती है और व्यक्ति फिर से कुछ अंशों में स्वाधीनता प्राप्त कर लेते हैं।

—श्री इन्द्र, विद्यावाचस्पति, (विशाल भारत, फरवरी, १९३२)

९३—स्वास्थ्य-रक्षा

'धर्मार्थकाममोक्षाणां शरीरं साधनं परम्।'—मनुष्य अपनी सम्पूर्ण क्रियाएं शरीर से करता है-शरीर के अस्वस्थ होने का सीधा परिणाम यह होगा कि मनुष्य कुछ कर न सकेगा-धर्म का साधन भी शरीर ही से होता है—अतः प्रत्येक दृष्टि से शरीर पुष्ट बनाना नितांत आवश्यक है—शारीरिक स्वास्थ्य का सर्वश्रेष्ठ साधन नियमित व्यायाम है—सैर, खेल, कसरत, डण्ड, बैठक, मुद्गर इन में से किसी न किसी को अपना कर उसे नियमित रूप से करते रहना चाहिए-स्वास्थ्य का आधार भोजन है-भोजन पौष्टिक, स्वादिष्ट और सुपच होना चाहिए-तली हुई वस्तुओं से परहेज़ होना चाहिए-दूध, मक्खन, आदि पौष्टिक पदार्थ हैं-अपनी पाचक-शक्ति को ख़्याल में रख कर इन का नियमित

रूप से सेवन करना चाहिए-खूब डट कर भोजन करना हानि-कारक है—भोजन दिन में कई बार और थोड़ा थोड़ा कर के करना चाहिये—अन्न, शाक, मक्खन, खांड, दूध, दाल और फल इन सब चीज़ों को प्रतिदिन एक विशिष्ट परिमाण में खाना चाहिए—ये सभी चीज़ें आवश्यक हैं-चाय की जगह दूध या लस्सी पीना अधिक अच्छा है—उत्तेजक पदार्थ और नशे की चीज़ें नहीं खानी चाहिएं—पान भी अधिक खाना हानिकारक है—व्यायामों में घोड़े की सवारी और पानी में तैरना सर्वश्रेष्ठ है—स्वास्थ्य-रक्षा के लिये नींद पूरी लेना भी नितांत आवश्यक है—स्नान भी मनुष्य को स्वस्थ बनाता है—इन सब नियमों का पालन करने से मनुष्य दीर्घायु और स्वस्थ रहता है।

श्री रामचन्द्र शुक्ल, (आदर्श जीवन)

———